chapter. 1

==

: प्रथम अध्याय :

: विषय-प्रवेश :

==

WONDER

:: प्रथम अध्याय ::

: विषय-प्रवेश :

प्रास्ताविक :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल के लिए "गद्यकाल" नाम प्रस्तावित किया था । [1]आधुनिक-काल से पूर्व आदिकाल तथा भक्तिकाल में गद्य की कुछ रचनाएं नाथों, जैनों तथा वैष्णवों की मिलती हैं ; परन्तु संख्या की दृष्टि से वे नगण्य हैं । वस्तुतः गद्य का समुचित विकास आधुनिक काल के अंतर्गत 19 वीं शताब्दी के उपरांत होने लगा । रामप्रसाद निरंजनी कृत "भाषायोग वाशिष्ठ " का गद्य आधुनिक गद्य के बहुत समीप पड़ता है । [2] रामप्रसाद निरंजनी के पश्चात् हिन्दी गद्य के विकास में मुख्यतया चार महानुभावों ने योगदान दिया । इनको हम आधुनिक हिन्दी गद्य-भवन के चार मुख्य स्तम्भ कह सकते हैं । सन् 1801 में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना मैकाले

द्वारा निर्देशित नयी शिक्षा-पद्धति के तहत हुई । उस समय डा. जान गिल क्राइस्ट हिन्दुस्तानी भाषा-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए । उनके अंतर्गत पंडित सदल मिश्र तथा लल्लूलाल गुजराती को हिन्दी विषय के लिए अध्यापकों के रूप में लिया गया । उस समय छात्रों को समीचीन ढंग से पढ़ाने के लिए गद्य में पाठ्यपुस्तकों का सर्वथा अभाव था । फलतः डा. जान गिल क्राइस्ट के निर्देशन में उक्त दोनों महानुभावों ने गद्य की पाठ्य-पुस्तकों को तैयार करने का काम किया । तदनुसार सन् 1805 में लल्लूलालजी ने भागवत के दशमस्कन्ध के आधार पर "प्रेमसागर" नामक गद्य-रचना लिखी , तो पंडित सदल मिश्र ने "नासिकेतोपाख्यान" का प्रणयन उसी वर्ष किया । लगभग उसी समय दो अन्य महानुभाव हिन्दी गद्य-निर्माण के क्षेत्र में गैर-अकादमिक ढंग से संलग्नित हुए । उनके नाम हैं — मुंशी सदासुखलाल तथा मुंशी इन्शाअल्लाखां । उन्होंने क्रमशः "सुखसागर" तथा "रानी केतकी की कहानी " नामक गद्य-ग्रन्थों की रचना की । "सुखसागर" श्रीमद् भागवत का हिन्दी अनुवाद था , तो "रानी केतकी की कहानी" को इन्शाअल्लाखां ने आख्यायिका के रूप में लिखा था । उक्त दोनों रचनाओं का प्रणयन भी लगभग उस समय के आसपास हुआ था ।

इन चार महानुभावों की गद्यशैली पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि जहाँ लल्लूलालजी की गद्यशैली में ब्रजभाषा का प्रभाव और उर्दू का पुट मिलता है ; वहाँ पंडित सदल मिश्र की भाषा कुछ पूरबीपन लिए हुए है । वह कुछ व्यावहारिक तथा सुथरी है । उसमें संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है । मुंशी सदासुखलाल की गद्यशैली संस्कृत परिनिष्ठित तथा पांडित्यपूर्ण है । इन्शाअल्लाखां की शैली उर्दू से प्रभावित है । [3]

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि हिन्दी गद्य के इस प्रारंभिक चरण में हमें दो प्रकार की गद्यशैलियां उपलब्ध होती हैं—

एक शैली है — पंडित सदल मिश्र और मुंशी सदासुखलाल की संस्कृत-निष्ठ गद्यशैली और दूसरी है — लल्लूलाल गुजराती तथा इन्शाअल्ला-ओं की उर्दू-प्रभावित आमफहम की सर्वसाधारण भाषाशैली । और ये दोनों गद्यशैलियां थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ आगे भी समानान्तर ढंग से विकसित होती रही हैं ।

उक्त चार लेखकों के द्वारा हिन्दी गद्य का प्रवर्तन तो हो गया, परन्तु उसकी अखण्ड परंपरा सन् 1857 के बाद ही दृष्टिगोचर होती है । हिन्दी गद्य के विकास में ईसाई मिशनरी धर्म-प्रचारकों का भी प्रकारान्तर से योगदान रहा है क्योंकि उन धर्म-प्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए बाइबल का हिन्दी में अनुवाद किया । मिशनरी धर्म-प्रचारक हिन्दू धर्म में जो प्रगतिविरोधी रूढ़िमूलक अन्ध-विश्वासपूर्ण तथ्य प्रविष्ट कर गये थे, उन पर करारे प्रहार करते थे । हिन्दू धर्म में जो दूषण थे, उन पर वे अधिक प्रकाश डालते थे । परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म की रक्षा हेतु कुछ सामाजिक-धार्मिक आंदोलन खड़े हुए, जिनमें हिन्दू धर्म के मूल तत्वों की खोजबीन की गई । फलतः ऐसे रूढ़िमूल अंधविश्वासों तथा कुरूढ़ियों को बहिष्कृत किया गया जिनके कारण हिन्दू धर्म की आलोचना होती थी । ऐसे धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों में ब्रह्मोसमाज, आर्यसमाज तथा प्रार्थनासमाज आदि आते हैं । ब्रह्मोसमाज के स्थापक राजा राममोहनराय पूर्व-पश्चिम की विद्याओं में निपुण तथा एक बहुभाषाविद् विद्वान थे । उनकी दीर्घदर्शी दृष्टि ने बहुत पहले ही यह भांप लिया था कि भारतवर्ष में अपने विचारों का यदि प्रचार-प्रसार करना है, तो हिन्दी भाषा ही उसके लिए सर्वथा उपयुक्त हो सकती है । उन्होंने स्वयं अनेक हिन्दी ग्रन्थों का प्रणयन किया । स्वामी दयानंद सरस्वती ने उत्तर भारत में धर्म-सेतु फहराने का काम किया । वे वैदिक धर्म को सच्चा हिन्दू धर्म मानते थे । वे वेदों के अध्ययन द्वारा हिन्दू धर्म के सत्य स्वरूप को सामने लाने का एक संनिष्ठ

एवं क्रान्तिकारी प्रयत्न करते हैं । स्वामीजी उद्भट विद्वान थे और संस्कृत पर उनका आश्चर्यजनक अधिकार था । वे संस्कृत में धारा-प्रवाह व्याख्यान दे सकते थे । जब स्वामीजी कलकत्ता गये , तब रामकृष्ण परमहंस ने उनको समझाया कि वे यदि अपनी बातें सामान्य प्रजा तक पहुँचाना चाहते हैं तो उनको अपने व्याख्यान हिन्दी में देने चाहिए । अतः उसके पश्चात् स्वामीजी ने हिन्दी में व्याख्यान देने का प्रारंभ किया । [4] इसके कारण उत्तर-प्रदेश , पंजाब और गुजरात आदि प्रदेशों में उनके अनुयायियों की संख्या निरंतर बढ़ती गई । स्वामीजी द्वारा प्रणीत "सत्यार्थप्रकाश " आर्यसमाज की विचारधारा को तो पोषित करता ही है , हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से भी एक सीमा-चिह्न-रूप ग्रन्थ है ।

लगभग इन्हीं दिनों में कुछ पत्र-पत्रिकाएं प्रकाश में आयीं । इन पत्रिकाओं में उदन्त मार्तण्ड " , "बंगदूत" , " प्रजामित्र ", "बनारस मार्तण्ड " , " सुधाकर" तथा "बुद्धिप्रकाश " जैसी पत्रिकाओं को उल्लेखनीय कहा जा सकता है । [5]

उक्त धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों के कारण समाज में पुनर्जागरण की चेतना उद्भूत हो चली थी , जिसके कारण विधवा-विवाह , स्त्री-शिक्षा , अनमेल-विवाह का विरोध , बुद्ध-विवाह का विरोध , दहेजप्रथा का विरोध , अस्पृश्यता का विरोध तथा धर्मान्तरण की समस्या जैसे विषयों पर विचार-विमर्श शुरु हो गया । फलतः हिन्दी गद्य को और भी गति मिली ।

सन् 1856 में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्दी हिन्दी अंग्रेजी xxxxxमें शिक्षा विभाग में उच्च पद पर नियुक्त हुए । राजा साहब हिन्दी के बड़े प्रेमी थे । वे आमफहम की अरबी-फारसी मिश्रित xxxxx उर्दू शब्दोंवाली हिन्दी का समर्थन करते थे । अतः उस प्रकार

की भाषा में उन्होंने अपने मित्र पंडित श्रीलाल तथा वंशीधर आदि से कई पुस्तकें लिखवायीं । राजा साहब स्वयं भी अनेक पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण कर रहे थे । इस प्रकार हिन्दी गद्य के विकास को आगे बढ़ाने में उनके योगदान को नकारा नहीं जा सकता है ।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्दी की उर्दू-मिश्रित गद्य-शैली के विरोध में राजा लक्ष्मणसिंह ने शुद्ध हिन्दी की मुहिम चलायी । शुद्ध हिन्दी से उनका तात्पर्य संस्कृत तत्सम शब्दावली से युक्त संस्कृत-परिनिष्ठित भाषा से था । उन्होंने उस शुद्ध हिन्दी में कालिदास के "मेघदूत" तथा "अभिज्ञान शाकुंतलम् " का अनुवाद किया । [6] इस प्रकार हम देख सकते हैं कि जहां राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की गद्य-शैली लल्लूलाल गुजराती तथा मुंशी इंशाअल्लाखां की परंपरा में आती है, वहां राजा लक्ष्मणसिंह की गद्यशैली पंडित सदल मिश्र तथा मुंशी सदासुखलाल की परंपरा को विकसित करती हुई दृष्टि-गोचर होती है ।

ऊपर निर्दिष्ट किया गया है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों को रोकने के लिए तथा हिन्दू धर्म की उनसे रक्षा करने के लिए, प्रार्थना-समाज, आर्यसमाज जैसे कुछ आंदोलन खड़े हुए थे । आर्यसमाज के पुरोधा स्वामी दयानंद सरस्वती थे । उन्होंने हिन्दी गद्य को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है । समाज के नवोत्थान के लिए स्वामीजी ने जिन मुहिमों को चलाया, हिन्दी का प्रचार-प्रसार भी उनमें से एक है । यह जानकर आश्चर्य होगा कि "स्वराज्य" शब्द का प्रथम उद्घोष भी स्वामीजी ने ही किया था । [7] स्वामी दयानंद सरस्वती के अन्य अनुयायियों में नवीनचन्द्र राय तथा पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी आदि प्रमुख हैं । नवीनचन्द्र राय ने आर्यसमाज के विचारों के प्रचार हेतु "ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका " नामक एक पत्रिका का प्रकाशन किया

का प्रकाशन कार्य शुरू किया । इसके कारण भी हिन्दी गद्य को एक वेग मिला । पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी ने "आत्मचिकित्सा", "तत्त्वदीपक", "धर्मरक्षा", "उपदेश-संग्रह" आदि गद्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया । हिन्दी का प्रथम उपन्यास "भाग्यवती" भी पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी की रचना है । यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "परीक्षागुरु" को हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना है ।[8] परन्तु इधर जो नयी खोजें हुई हैं उनके आधार पर "भाग्यवती [illegible] को अब हिन्दी का प्रथम [illegible] उपन्यास माना जाने लगा है ।

हिन्दी गद्य के लिए जब जमीन बन रही थी, तभी बाबू भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ । बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इतिहास-प्रसिद्ध (या इतिहास-कुख्यात) अमीचन्द घराने से आते हैं । उन्होंने अपने बाप-दादाओं की अत्याचार और पाप-पूर्ण ढंग से कमाई हुई बेशुमार दौलत को ठिकाने लगा दिया । अपनी इस अतुल संपत्ति के बल पर उन्होंने भारतेन्दु मंडल की स्थापना की और अपने समय के अनेक लेखकों को लिखने के लिए प्रेरित किया । हिन्दी नाट्य-मंच को स्थापित करने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है । जो कार्य गुजराती में वीर नर्मद ने किया, लगभग वही कार्य बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में संपन्न किया । अर्थात् हिन्दी साहित्य को बहुविधात्मिनी बनाना । नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, लेख आदि गद्य के अनेक रूप अस्तित्व में आये । गद्य के इन नवीन रूपों के कारण ही हिन्दी गद्य को बढ़ावा मिला । भारतेन्दु के समकालीन लेखकों में लाला श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि मुख्य हैं । इन्होंने हिन्दी गद्य को

विकसित करने में अर्थ असंदिग्धतया एक निश्चित भूमिका अदा की है ।

भारतेन्दु तथा भारतेन्दु मंडल के लेखकों पर ब्रज भाषा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है । उनकी कविता की भाषा तो ब्रजभाषा ही थी । अतः उनका गद्य भी ब्रजभाषा की गिरफ्त में आ जाता था । यह स्वाभाविक ही होगा कि व्यक्ति यदि किसी अन्य भाषा में कविता करता है, तो उसकी गद्य-भाषा में उसके संस्कार आ ही जायेंगे । यहाँ भारतेन्दु बाबू के "चन्द्रावली " नाटिका से कुछ गद्य-पंक्तियों को इसके साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं —

" ललिता ! क्या कुछ नहीं ! फिर तू चली अपनी चाल से । तेरी छल-विद्या कहीं नहीं जाती, तू व्यर्थ इतना क्यों छिपाती है ? सखि, तेरा मुखड़ा कह देता है कि तू कुछ न कुछ सोचा करती ... चन्द्रावली — क्यों सखि, मेरा मुखड़ा क्या कह देता है ? ... ललिता — यही कह देता है कि तू किसी की प्रीति में फँसी है ... चन्द्रावली — बलिहारी सखि ! मुझे कलंक दिया । ... ललिता — सखि, तू फिर वही बात कहे जाती है । मेरी रानी ! ये आँखें ऐसी बुरी हैं । जब किसीसे लगती हैं, तब कितना भी छिपाओ नहीं छिपतीं — छिपाये न छिपत न नैन लगत ! " [1]

अभिप्राय यह कि बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक हिन्दी गद्य ब्रज भाषा के संस्कारों से मुक्त नहीं हुआ था । इसे मुक्त करने का श्रेय दो महानुभावों को जाता है — पंडित श्रीधर पाठक और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ।

किसी भी भाषा में जब तक काव्य-भाषा और गद्य-भाषा अलग-अलग होंगी , तब तक उसमें विशुद्ध - परिमार्जित गद्य के लिए कोई अवकाश नहीं रहता क्योंकि काव्य-भाषा के संस्कार गद्य-भाषा में आते जाते हैं । अतः पंडित श्रीधर पाठक ने जो खड़ी बोली आंदोलन चलाया उससे हिन्दी गद्य लाभान्वित हुआ । पाठकजी ने काव्य-भाषा और गद्य-भाषा के भेद को मिटाते हुए खड़ी बोली में ही काव्य-रचना की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया । उससे खड़ी बोली गद्य भी विकसित और संपन्न होने लगा ।

इस दिशा में दूसरा महत्वपूर्ण कार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने किया । द्विवेदीजी ने हिन्दी गद्य को व्याकरण-सम्मत करते हुए उसे एक परिनिष्ठित एवं परिमार्जित रूप प्रदान किया । हिन्दी गद्य में जो व्याकरण से सम्बद्ध अराजकता थी , उसे मिटाने का भगीरथ कार्य द्विवेदीजी ने किया । द्विवेदीजी के अतिरिक्त उस काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल , बाबू श्यामसुंदर-दास , पंडित माधवप्रसाद मिश्र , बाबू गुलाबराय , पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी , पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी , अध्यापक पूर्णसिंह तथा पद्मसिंह शर्मा ने हिन्दी गद्य को विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया ।[10] एक बार जब हिन्दी गद्य की धारा चल पड़ी तो वह आगे निरंतर विकसित होती चली गई ।

यहाँ हिन्दी गद्य के विकास पर संक्षेप में जो दृष्टिक्षेप किया गया है , उसका कारण यह है कि प्रस्तुत प्रबंध में हमें प्रेम-चन्द और जैनेन्द्र के उपन्यासों पर एक विशिष्ट दृष्टि के साथ विचार करना है और उपन्यास गद्य की विधा है । अंग्रेजी में उपन्यास की जितनी भी परिभाषाएं उपलब्ध होती हैं उनमें इस तथ्य को असंदिग्धतया निरूपित किया गया है कि उपन्यास एक गद्य विधा है ।

" न्यू इंग्लिश डिक्शनरी" में "नावेल " की जो परिभाषा दी गई है उसके पूर्वार्द्ध में कहा गया है — " ए नावेल इज़ ए फिक्शनल प्रोज आफ कन्सीडरेबल लेन्थ." [11] राल्फ फाक्स महोदय ने इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहा — " ए नावेल इज़ नोट मियरली फिक्शनल प्रोज , इट इज़ ए प्रोज आफ मैन्स लाईफ ." [12] अर्थात् मात्र प्रकथनात्मक गद्य न होकर मानव-जीवन का गद्य है । मानव-जीवन के गद्य से अभिप्राय यहाँ उस गद्य से है जिसे हम बोलचाल की भाषा कहते हैं । वस्तुतः उपन्यास में लेखकीय भाषा के अतिरिक्त दूसरी जो भाषा आती है वह पात्रों की भाषा है और वह अपने-अपने परिवेश के अनुरूप होती है ।

अतः कहा जा सकता है कि उपन्यास का विकास गद्य के विकास के उपरांत ही होता है । यूरोप में 18 वीं शताब्दी में डिफो , रिचार्डसन , फिल्डिंग , स्मालेट , स्टर्न आदि औपन्यासिक आविर्भूत होते हैं ; परन्तु उसके पूर्व एडिसन , स्टील आदि निबंधकारों के प्रयत्नों के फलस्वरूप तथा पत्रकारिता के विकास के कारण ऐसे गद्य का विकास हो चला था जो वर्णन , विवेचन और चित्रण में समर्थ था । [13]

आधुनिक काल में हिन्दी उपन्यास के विकास के कारण :

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल मोटे तौर पर सन् 1850 से माना जाता है । 19 वीं शताब्दी का यह उत्तरार्द्ध भारतीय इतिहास तथा जन-जीवन के लिए अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण महत्त्वपूर्ण है । यह उथल-पुथल और संक्रान्ति का समय है । मुगलों और मराठों का पराभव हो चुका था और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी । सन् 1801 में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना

हो चुकी थी । उसके बाद सन् 1854 में सर चार्ल्स वुड के शिक्षा-विषयक चार्ट को ध्यान में रखते हुए सन् 1857 में मद्रास, बंबई, कलकत्ता इत्यादि महानगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई ।

सन् 1882 में पंजाब युनिवर्सिटी की स्थापना हुई । उसके पांच वर्ष बाद इलाहाबाद युनिवर्सिटी अस्तित्व में आयी । एक सर्वेक्षण के अनुसार सन् 1857 में हमारे कालेजों की कुल संख्या 279 थी । [14] फलतः हमारे यहाँ के बहुत से युवकों में इस कालेज शिक्षा के कारण एक व्यापक दृष्टिकोण आविर्भूत हुआ । बीच के अंधकार युग में भारतीय जनजीवन और संस्कृति में जो संकुचितता आ गई थी, वह क्रमशः दूर होने लगी । इसलिये इतिहासकार इसे पुनर्जागरण काल कहते हैं । इस समय साहित्य में भी कई नयी विधाएं आयीं । उपन्यास भी उनमें से एक है । यहाँ बहुत संक्षेप में उन कारणों पर विचार हो रहा है जो उपन्यास के आविर्भाव के लिए कारणभूत हैं :—

(1) गद्य का विकास : यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि आधुनिक काल में हिन्दी गद्य का विकास हुआ है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसी कारण से हिन्दी के आधुनिक काल को "गद्यकाल" कहते हैं । [15] आदिकाल तथा भक्तिकाल में कुछेक गद्य-रचनाएं प्राप्त होती हैं, परन्तु परिमाण की दृष्टि से वे नगण्य हैं । वस्तुतः गद्य का सर्वांगीण विकास आधुनिककाल में ही हुआ है । आधुनिक काल में मुद्रण कला तथा प्रेस के कारण गद्य के विकास को गति मिली । साथ ही अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ । इन पत्रिकाओं ने गद्य के विकास में विशेष योग दिया । जब गद्य का विकास हुआ तो गद्य से जुड़ी नयी विधाओं का भी आविर्भाव हुआ । उपन्यास भी गद्य की ही विधा है । अतः गद्य के विकास के साथ 19वीं

तथा लेखक अंग्रेजी साहित्य से अवगत हुए , तो उनके इस साहित्य-रूप की ओर भी आकृष्ट हुए और उन्होंने अपनी-अपनी भाषाओं में इस साहित्यिक रूप को ढालने का प्रयत्न किया । लाला श्रीनिवास-दास कृत "परीक्षागुरु " में लेखक ने इस मतलब का संकेत दिया है कि यह एक "अंग्रेजी चाल की पुस्तक है । " [16] गुजराती उपन्यास "करणघेलो" के लेखक नंदशंकर एक हाईस्कूल के अध्यापक थे । उनका शिक्षा-अधिकारी एक अंग्रेज व्यक्ति था जो साहित्य में भी काफी अभिरुचि रखता था । उसकी ही प्रेरणा से नंदशंकर ने इस उपन्यास की रचना की थी । अभिप्राय यह कि भारत में ब्रिटिश राज्य का प्रारंभ हो गया और अंग्रेजी शिक्षा की नींव पड़ गई तो अंग्रेजी साहि-त्य से भारतीय भाषाओं में यह विधा उतर आयी । हिन्दी में उपन्यास का आविर्भाव भी इसी प्रक्रिया के तहत हुआ ।

(3) पुनर्जागरण की प्रवृत्तियाँ :

मुगलों और मराठों के पराभव के पश्चात् अंग्रेजों ने भारत में धीरे-धीरे अपनी सत्ता को सुदृढ़ किया । इन अंग्रेज सत्ताधारियों अधिकारियों तथा व्यापारियों के साथ-साथ कुछ मिशनरी धर्म-प्रचारक भी आये । वे लोग हमारे यहां ईसाई धर्म का प्रचार करने आये थे । अपने इस प्रचार-कार्य में वे हिन्दू धर्म के कुछ छिद्रों पर विशेष प्रहार करते थे । वैदिक धर्म से लेकर अब तक की सुदीर्घ परंपरा में हिन्दू धर्म में बहुत-से ऐसे तत्त्व समाविष्ट हो गये थे , जिनका धर्म से कोई लेना-देना नहीं था । अपने न्यस्त हितों की रक्षा के लिए कुछ लोगों ने धर्म के नाम पर , नारियों का , दलितों का और गरीबों का शोषण शुरू कर दिया था । धर्म के नाम पर अधार्मिक तथा अमानुषिक कार्य होते थे । पुरुष एक स्त्री के रहते हुए भी कई-कई विवाह कर सकते थे । दूसरी तरफ पति की

मृत्यु के बाद सतीप्रथा के नाम पर स्त्री को जिन्दा जला दिया जाता था । उच्च जाति के लोगों में विधवा-विवाह पर प्रतिबंध था । शिशु-विवाह का प्रचलन था । अस्पृश्यता के ख्यालों के कारण अछूत जातियों के साथ पशुओं से भी बदतर व्यवहार होता था । केवल अस्पृश्यों के स्पर्श से ही नहीं बल्कि उनकी परछाइयों से भी उच्च जाति के कुछ लोग भ्रष्ट हो जाते थे । दक्षिण के त्रावण-कोर राज्य की पुरानी सरकारी रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि उस समय वहाँ कुछ ऐसी अस्पृश्य जातियाँ थीं जिनसे उच्च जाति के लोग 24 फीट से लेकर 72 फीट की परिसीमा में भ्रष्ट हो जाते थे । कुछ राज्यों में प्रातः नव-दस बजे से पूर्व और सायं तीन-चार बजे के पश्चात् अस्पृश्यों का प्रवेश वर्जित था, क्योंकि उस समय परछाइयाँ सबसे अधिक दीर्घ होती हैं ।[17] उस समय उन लोगों पर अनेक सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक निर्योग्यताएं [ ] थोपी गयी थीं । वे जमीन नहीं खरीद सकते थे, सोना-चाँदी के अलंकार तथा तांबा-पित्तल के बर्तन नहीं खरीद सकते थे । धार्मिक ग्रन्थों का अध्य-यन तथा धार्मिक अनुष्ठान उनके लिए वर्जित थे । सार्वजनिक स्थानों तथा सुविधाओं का प्रयोग वे नहीं कर सकते थे ।[18] मनुस्मृति में एक स्थान पर कहा गया है कि शूद्रों के धन-संग्रह से ब्राह्मणों को पीड़ा होती है ।[19] और तो और वे अपना व्यवसाय तक नहीं बदल सकते थे । धर्म के नाम पर यह जो वैषम्य और अन्याय चल रहा था, विदेशी मिशनरी धर्म-प्रचारकों ने उसको अपना लक्ष्य बनाया और वे हिन्दू धर्म के इन तथाकथित ठेकेदारों पर प्रहार करने लगे । बहुत-सी पिछड़ी जातियों के लोग ईसाई धर्म में दीक्षित होने लगे । उस समय हमारे यहाँ कुछ ऐसे महानुभावों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने हिन्दू धर्म के

मूलभूत अभिलाषाओं की खोज की और जिन्होंने हिन्दू धर्म के वाह्याडंबरों, ढकोसलों तथा कुप्रथाओं और कुरीतियों से मुक्ति दिलाने का कार्य किया।

हिन्दू पुनर्जागृति के अग्रदूत बनकर आये राजा राममोहन राय। वे असाधारण प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति थे। बंगला, हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी के अलावा उन्होंने कई विदेशी भाषाओं का भी अध्ययन किया था। इस व्यापक चेतना के फलस्वरूप उन्होंने दूसरे धर्मों का भी अध्ययन किया था। फलतः अपने धर्म की खामियों पर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक था। उनकी अनुपस्थिति में उनके भाई की मृत्यु हो गई और उनकी भाभी सती हो गई। वे अपनी भाभी को बहुत प्यार करते थे। अतः इस घटना से वे बहुत दुःखी हुए। फलतः उस समय के गवर्नर जनरल सर लार्ड विलियम बैंटिक से मिलकर उन्होंने सन् 1829 में सतीप्रथा निषेध कानून बनवाया। अपने विचारों के प्रचार हेतु उन्होंने ब्रह्मोसमाज नामक एक संस्था की स्थापना की। धर्म के बाह्याचारों का विरोध, नारी-शिक्षा का प्रचार, विधवा-विवाह का प्रचार, बाल-विवाह का विरोध, मूर्तिपूजा का विरोध जैसी प्रवृत्तियां ब्रह्मोसमाज के अन्तर्गत होती थीं। राजा राममोहनराय के पश्चात् केशवचन्द्र सेन तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महानुभावों ने ब्रह्मोसमाज की प्रवृत्तियों को आगे विकसित किया। इनमें केशवचन्द्र सेन में हिन्दू धर्म की कुरूढ़ियों के प्रति खण्डनात्मक उग्रता कुछ अधिक मिलती है। अतः बहुत-से लोग उनको ईसाई क्रिश्चियन कहते थे।[20]

उन दिनों महाराष्ट्र में "परमहंस" नामक एक संस्था गुप्त रूप से कार्य करती थी। इस संस्था में केवल उस व्यक्ति को प्रवेश मिलता था जो ईसाई या मुसलमान के हाथ का बनाया हुआ

जाना जा सकता हो । [21]

बाद में केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से इसी संस्था के सदस्यों द्वारा प्रार्थना समाज की स्थापना हुई । सामाजिक कुरीतियों का विरोध , नारी-शिक्षा का प्रचार , विधवा-विवाह का प्रचार , बालिका-विवाह का निषेध जैसी प्रवृत्तियाँ प्रार्थनासमाज में अग्रिम क्रम में थीं । प्रोफेसर भिगारकर , महादेव गोविंद रानडे , श्रीमती रमाबाई रानडे , गोपाल कृष्ण गोखले , लोकमान्य तिलक आदि इसके प्रमुख नेता थे । जन-जागृति का जो कार्य ब्रह्मोसमाज ने बंगाल में किया , वही कार्य ~~महाराष्ट्र~~ महाराष्ट्र में प्रार्थनासमाज के द्वारा संपन्न हुआ ।

उन्हीं दिनों में स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना करते हुए मूल वैदिक धर्म का प्रवर्तन किया । स्वामीजी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे । वे प्रारंभ में अपने व्याख्यान संस्कृत में ही देते थे , परन्तु बाद में रामकृष्ण परमहंस के कहने पर उन्होंने अपने व्या- ~~ख्यान~~ ख्यान हिन्दी में देने शुरू किये । इसका काफी प्रभाव पड़ा । पंजाब , उत्तरप्रदेश , राजस्थान , बम्बई आदि में आर्य समाज की अनेक शाखा-प्रशाखाएँ खुल गयीं और धर्म-प्रचार का कार्य जोरों से शुरू हो गया । स्वामीजी वैदिक परंपराओं के आग्रही थे । उन्होंने अपने ~~अ~~ व्याख्यानों द्वारा यह प्रतिपादित किया कि बहुत-से हिन्दू कुरिवाज , जो धर्म के नाम पर चलाये जा रहे हैं , मूलतः हिन्दू धर्म के अन्तर्गत आते ही नहीं है । मूल हिन्दू धर्म की चेतना तो बहुत ही व्यापक है ~~अ~~ और ये सारी कुरूढ़ियाँ बाद में , धर्म के मूल स्वरूप को न जानने के कारण , प्रविष्ट हुई । स्वामीजी मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे और एकेश्वरवाद के पक्षपाती थे । आर्यसमाज में भ्रष्ट हिन्दू को भी पुनः प्रविष्ट कराने की प्रवृत्ति

मिलती है । तथाकथित निम्न जाति के लोगों को भी उन्होंने उपनयन-संस्कार का अधिकार दिया । नारी-शिक्षा , विधवा-विवाह , अन-मेल विवाह का विरोध , जातिवाद का विरोध , धार्मिक ढकोसलों का विरोध , हिन्दी का प्रचार , स्वराज्य की चर्चा जैसे विषय आर्यसमाजियों के प्रिय विषय थे । स्वामीजी द्वारा प्रणीत " सत्यार्थ-प्रकाश " में आर्यसमाज के सिद्धान्तों की भलीभांति चर्चा हुई है । पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी , नवीनचन्द्र राय , लाला लाजपतराय आदि इसके प्रमुख धर्म-प्रचारक थे । नवीनचन्द्र राय ने तो आर्य-समाजी सिद्धान्तों के प्रचार हेतु "ज्ञान-प्रदायिनी " नामक एक पत्रिका का प्रकाशन भी शुरू किया भी था । पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी ने आत्मचिकित्सा " , "तत्त्वदीपक " , "धर्मरक्षा " , "उपदेश-संग्रह " आदि ग्रन्थों में आर्यसमाज के सिद्धान्तों को व्याख्यायित किया है । इन्हीं फुल्लौरीजी ने नारी-शिक्षा को लेकर "भाग्यवती" नामक एक उपन्यास भी लिखा है ।[22]

आगे चलकर जो स्वाधीनता-संग्राम चला उसमें भी आर्य-समाज ने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है । एक ओर जहां उसमें अनेक कांग्रेसी नेता मिलते हैं , वहां सुखदेव और भगतसिंह , चन्द्रशेखर आजाद आदि क्रान्तिकारियों का उत्स भी आर्यसमाजी आंदोलन में मिलता है । अपने प्रगतिवादी विचारों के कारण हिन्दी साहित्य के अनेक लेखक भी शुरू में आर्यसमाज की ओर आकर्षित हुए थे । प्रेमचन्द की प्रारंभिक वैचारिक पीठिका के निर्माण में आर्यसमाज की महत्त्वपूर्ण भूमिका है । प्रेमचन्द स्कूल के अनेक लेखक उन दिनों आर्यसमाजी विचारों से प्रभावित होकर सामाजिक सुधारों पर अपनी लेखनी चला रहे थे ।

उपर्युक्त सामाजिक , धार्मिक आंदोलनों के अतिरिक्त स्वामी रामकृष्ण परमहंस , स्वामी विवेकानंद , महर्षि अरविंद,

रैडिम ब्लेवात्स्की , श्रीमती एनी बेसण्ट जैसे महानुभावों ने भी इस नवजागरण काल में नवीन चेतना और विचारों को प्रवाहित एवं सरंगाधित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । इन सबके कारण जो एक नवीन सामाजिक चेतना का निर्माण हुआ उसने कई लेखकों को औपन्यासिक विषय दिये । इस काल में उपन्यास के विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है ।

[5] औद्योगीकरण की प्रवृत्ति :

जमीनी रास्तों से यूरोप के देशों के साथ अरब का व्यापार तो प्राचीन काल से चल रहा था , परन्तु मध्ययुग में हुए धर्मयुद्धों के दरमियान सन् 1453 में आरबों ने कोन्सटण्टीनोपल को जीत लिया । फलतः समुद्री मार्ग के आविष्कार की आवश्यकता आ पड़ी । इसी उपक्रम में सन् 1492 में कोलम्बस ने और सन् 1498 में वास्को-डी-गामा ने क्रमशः अमेरिका तथा भारत आने के समुद्री मार्गों की खोज की । इसके पश्चात् गैलेलियो , न्यूटन , शीगर्ड ; आर्करॉइड , जेम्स वाट जैसे वैज्ञानिकों के कारण मशीनीकरण की प्रवृत्ति को वेग मिला । इस मशीनीकरण के कारण औद्योगिक क्रांति का आविर्भाव हुआ । परन्तु इंग्लैंड तथा अन्य यूरोपी देशों में औद्योगीकरण की नींव 18 वीं सदी में ही रखी जा चुकी थी ।[23]

इंग्लैंड में सन् 1764 में जेम्स हरग्रीव नामक व्यक्ति ने एक ऐसे चरखे का निर्माण किया था जिस पर एक साथ दस सूत काते जा सकते थे । सन् 1768 में रीचार्ड आर्करॉइड ने एक ऐसे यंत्र की खोज की जिससे एक साथ दो सौ सूत निकलते थे । सन् 1750 में लकड़ी के कोयले के स्थान पर पत्थर के कोयले का उपयोग होने लगा । अब धातुओं को गलाकर मशीनें बनाने का काम अधिक सरल हो गया । किन्तु औद्योगिक क्रांति एवं औद्योगीकरण का व्यवस्थित

प्रारंभ तो सन् 1765 ई. से माना जाता है जब जेम्स वाट ने वाष्प के वाष्पवाले इंजन का आविष्कार किया । सन् 1814 ई. में जार्ज स्टीवेन्सन ने विश्व की प्रथम रेलगाड़ी का आविष्कार किया ** जिसके कारण यातायात की समस्याएँ अधिक सुगम हो गईं । फलतः औद्योगिक-विश्व में आमूलचूल परिवर्तन संभव हुए । अब समुद्री जहाजों में भी वाष्प के इंजन का प्रयोग होने लगा । इसके कारण ही उसे स्टीमर" कहा जाता था । 26

इस प्रकार 18वीं सदी में ऐसे अनेक आविष्कार हुए जिसके कारण औद्योगीकरण की प्रवृत्ति तीव्रगामी हो गयी । पहले कृषि-कार्य बैल और हल की सहायता से पुराने तरीकों से होता था तथा लकड़ी और लोहे के छोटे-मोटे औजारों के द्वारा कुटिर उद्योगों के अन्तर्गत मानव-शक्ति से उत्पादन कार्य होता था , परन्तु अब मशीनों , कोयला , जलशक्ति , विद्युतशक्ति , पेट्रोल , परमाणु-शक्ति आदि के द्वारा व्यापक पैमाने पर उत्पादन-कार्य होने लगा है । इस मशीनीकरण के कारण औद्योगीकरण की प्रवृत्ति कल्पनातीत रूप से विकसित हुई जिसने विश्व तथा मानव-समाज के सई समीकरणों को बदल दिया ।

औद्योगीकरण का अर्थ :

औद्योगीकरण औद्योगिक क्रांति का परिणाम है । औद्योगीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें लघु एवं कुटिर उद्योगों का स्थान बड़े-बड़े उद्योग लेने लगते हैं । उद्योगों में जलशक्ति के स्थान पर वाष्पशक्ति का प्रयोग अधिक-से-अधिक मात्रा में होने लगता है । अधिकांश उत्पादन-कार्य मशीनों की सहायता से होता है । ऐसी स्थिति में उत्पादन के परिमाण और क्षमता में भी वृद्धि होने लगती है । प्रसिद्ध समाजशास्त्री पोकाग दास के अनुसार औद्योगीकरण

से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके अंतर्गत उत्पादन-कार्यों में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहते हैं । इन परिवर्तनों में कुछ आधारभूत परिवर्तन वे हैं जिनका संबंध यांत्रिकता से है । इन कारणों से किसी नवीन उद्योग की स्थापना, किसी नये बाज़ार की खोज और विस्तार दोनों ही बढ़ते हैं ।[25]

एक दूसरे विद्वान स्टैनेल के शब्दों में औद्योगीकरण का अर्थ है फैक्टरियों, मिलों, खानों, शक्ति-संयंत्रों, रेलवे आदि निर्माण संबंधी तथा घनिष्ठ रूप से संबंधित क्रियाओं, विशेषकर वे क्रियाएं जिनसे आधुनिक आर्थिक संरचना का निर्माण और संचालन होता है । ... इस अर्थ में आर्थिक विकास की व्यापक प्रक्रिया का विचार औद्योगीकरण में निहित है ।[26]

यू.एन. की रिपोर्ट में औद्योगीकरण को इस प्रकार विश्लेषित किया गया है :— " औद्योगीकरण शब्द का प्रयोग व्यापक एवं संकुचित दोनों अर्थों में हुआ है । संकुचित अर्थ में औद्योगीकरण से तात्पर्य निर्माण, उद्योगों की स्थापना एवं विकासxxx से है । इस अर्थ में औद्योगीकरण आर्थिक विकास की प्रक्रिया का एक भाग है जिसका उद्देश्य उत्पादनों के साधनों की कुशलता में वृद्धि करके जीवन के स्तर को ऊँचा उठाना है । परन्तु व्यापक अर्थ में औद्योगीकरण के द्वारा किसी भी देश की सम्पूर्ण आर्थिक संरचना को परिवर्तित किया xxxxxxx जा सकता है । "[27]

औद्योगीकरण की विशेषताएं :

[औद्योगीकरण की विभावना के स्पष्टीकरण हेतु उसकी कतिपय विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है । औद्योगीकरण की विशेषताओं में हम निम्नलिखित को परिगणित कर सकते हैं :—

§1§ औद्योगीकरण का संबंध उत्पादन की तेज प्रक्रिया से है ।

§2§ औद्योगीकरण के दौरान नवीन उद्योगों की स्थापना होती है ।

§3§ औद्योगीकरण में मानव-श्रम की अपेक्षा यंत्र-शक्ति पर अधिक निर्भरता होती है तथा उसमें मानव-शक्ति तथा पशु-शक्ति के स्थान पर जड़ पदार्थ-शक्ति जैसे कोयला, पेट्रोल, डिजल, जल-विद्युत, परमाणु-शक्ति आदि का सविशेष प्रयोग होता है ।

§4§ औद्योगीकरण में उत्पादन की प्रक्रिया के अन्तर्गत श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण की प्रवृत्ति को लक्षित किया जा सकता है ।

§5§ औद्योगीकरण में वैज्ञानिक एवं नवीन तकनीकी पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है ।

§6§ औद्योगीकरण में प्राकृतिक स्रोतों का पूर्णरूपेण दोहन होता है ।

§7§ औद्योगीकरण के कारण वायु-प्रदूषण तथा जल-प्रदूषण बढ़ जाता है ।

§8§ औद्योगीकरण के दौरान आर्थिक विकास होता है और पूंजी का विकास एवं विस्तार होता है । इस प्रकार औद्योगीकरण के कारण सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता उत्पन्न होती है ।

§9§ औद्योगीकरण वह प्रक्रिया है जिसके कारण किसी देश या नगर या प्रदेश का आर्थिक कलेवर परिवर्तित हो जाता है ।

§10§ औद्योगीकरण के कारण समाज में मजदूर और मालिक वर्ग का उदय होता है ।

§11§ औद्योगीकरण के कारण ही भारत में मध्यवर्ग और निम्न-मध्यवर्ग अस्तित्व में आये हैं ।

§12§ औद्योगीकरण के फलस्वरूप प्राचीन विश्वासों एवं मान्यताओं का ह्रास होता है । उसके कारण पुराने जीवन-मूल्य टूटते-थहराते नज़र आते हैं ।

आज नगरीय जीवन में संत्रास , ऊब , घुटन , पीड़ा , एकाकीपन , मानसिक एवं स्नायुगत दबाव इत्यादि का जो अनुभव हो रहा है वह औद्योगीकरण से निष्पन्न यांत्रिकता के कारण है । जड़ मशीनों के साथ काम करते-करते मनुष्य मशीनवत हो गया है । फलतः मानवीय भावनाओं का शनैःशनैः ह्रास हो रहा है । औद्योगीकरण ने नगरीकरण की प्रक्रिया को तेज़ किया है । नगरीय-जीवन में मनुष्य धीरे-धीरे पुराने मानवीय मूल्यों को विस्मृत करता जाता है । "रंगभूमि" उपन्यास में सूरदास जानसेवक के सिगरेट के कारखाने का विरोध इसलिए करता है कि सिगरेट का कारखाना खुलने से बाहर से मज़दूर बस्ती में आयेंगे , जुआ , शराब और ताड़ी का प्रचलन बढ़ेगा ; कस्बियाँ §वेश्याएँ§ बस्ती में आयेंगी और बस्ती का वातावरण भ्रष्ट और कलुषित होगा । यह सूरदास की चिन्ता थी और बिलकुल सही चिन्ता थी । आज हम बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में क्या देख रहे हैं ? प्रेमचन्द की पैनी निगाह ने अन्धे किन्तु प्रज्ञाचक्षु सूरदास के द्वारा इसका दर्शन बहुत पहले ही कर लिया था । [28]

भारत में औद्योगिक विकास § §:

भारत में औद्योगिक विकास का आरंभ 19वीं शताब्दी में हुआ । यूरोप में जो वैज्ञानिक आविष्कार हुए उनका प्रभाव भारत के औद्योगिक विकास पर भी पड़ा । सन् 1853 में बम्बई और थाने के बीच प्रथम रेलगाड़ी का आरंभ हुआ । भारत में औद्योगिक

विकास के पीछे चाय, कहवा एवं नील की खेती भी कारणभूत है। इन सबमें यूरोपीय व्यापारियों का मुख्य हाथ था। सन् 1857 ई. में भारत में चाय के बागानों की संख्या 48 थीं जो कुछ ही वर्षों में सन् 1871 ई. में 95 हो गईं और आज जहाँ तक चाय के उत्पादन का प्रश्न है, भारत का क्रम विश्व में दूसरा है। [29] ठीक उसी प्रकार यूरोपीय व्यापारियों ने नील की खेती को भी बढ़ावा दिया। सन् 1940 ई. में यूरोपीय व्यापारियों द्वारा ही कहवे की खेती का भी प्रारंभ हुआ। [30]

तब से लेकर अब तक यह उद्योग निरंतर प्रगति कर रहा है। परन्तु भारत में वास्तविक रूप से औद्योगीकरण का प्रारंभ सन् 1850 से माना जा सकता है जब पहली बार भारत में कपड़ा बुनने की मील की स्थापना की गई। सन् 1879 तक कपास की कुछ मीलें तथा कोयले की कुछ मीलें काम कर रही थीं। इस तरह धीरे-धीरे कोयला, कपड़ा और जूट का उद्योग बढ़ने लगा। इन उद्योगों पर उस समय अधिकांशतः अंग्रेज कंपनियों का ही स्वामीत्व था। सन् 1914 तक लगभग 70 सूती वस्त्र-उद्योग एवं 30 जूट मीलों की स्थापना हो गई थीं। शनैः शनैः रेलों का विस्तार भी हो रहा था। औद्योगिक विकास में यातायात के साधनों की भूमिका अनिवार्य होती है। 31

सन् 1880 ई. में बिहार के सिंहभुम जिले के साँची नामक स्थान पर टाटा के लौह एवं इस्पात के उद्योग की स्थापना हुई जिसके कारण जमशेदपुर जैसा नगर अस्तित्व में आया। प्रथम विश्व-युद्ध (सन् 1914-1919) के दौरान शत्रु राष्ट्रों से आयात बन्द हो गई। फलतः हमारे यहाँ के उद्योगों को फायदा पहुँचा, जिनमें सूती एवं ऊनी वस्त्र, लौह, इस्पात, जूट एवं चमड़े के उद्योग आदि आते हैं। सन् 1924 से 1939 के बीच सरकार ने लोहा,

इस्पात, कागज, माचिस, सूती कपड़ा, चीनी एवं सुराही बनाने वाले कारखानों को संरक्षण प्रदान किया । तभी दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया जिसके कारण उद्योगों में और तेजी आ गई । इस उद्योग-विकास के फलस्वरूप बम्बई, कलकत्ता, मद्रास [चेन्नई], दिल्ली, अहमदाबाद, कानपुर, जमशेदपुर, भिलाई, दुर्गापुर, राउरकेला सोनीपत, अम्बाला, लुधियाना, अमृतसर, ~~बैंगलोर~~ बैंगलोर आदि नगरों में अनेक उद्योग स्थापित हुए । औद्योगिक विकास के तहत जिन उद्योगों का विकास हुआ उनमें निम्नलिखित मुख्य हैं — कोयला, लोहा, इंजिन, मशीनी औजार, रेलगाड़ी, स्कूटर, मोटर साइकिल, सिलाई मशीन, पंखे, वनस्पति घी, खाद, रासायनिक पदार्थ, कागज, साबुन, शराब, सिगरेट, माचिस, जहाज, पेट्रोलियम आदि-आदि ।[32]

औद्योगीकरण का प्रभाव :

औद्योगीकरण के कारण नगरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई । गांव टूटने लगे और नये-नये नगर अस्तित्व में आने लगे । उसके कारण रेल, मोटर, ट्रक, वायुयान, जहाज आदि यातायात के साधनों में वृद्धि हुई । श्रम-विभाजन और विशेषीकरण के कारण व्यक्ति समूची उत्पादन-प्रक्रिया का एक छोटा-सा हिस्सा बनकर रह गया । औद्योगीकरण ने पूंजीवाद को जन्म दिया । श्रमिकों के श्रम का ~~[illegible]~~ लाभ पूंजीपतियों को मिला और इस प्रकार धनवान अधिक धनवान और गरीब अधिक गरीब होता गया । औद्योगीकरण के कारण कुटिर-उद्योगों का नाश हुआ । फलतः बेकारी में अभिवृद्धि हुई । औद्योगीकरण के कारण गांव की आत्म-निर्भरता खत्म हो गई । इसीने गंदी बस्तियों की समस्या को बढ़ावा दिया । जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण तथा ध्वनि-प्रदूषण के कारण लोगों के स्वास्थ्य की समस्या दिन-ब-दिन गहरी होती

गई । औद्योगीकरण के कारण एक स्थान या प्रदेश के लोग दूसरे स्थान या प्रदेश के नगरों में जाकर बसने लगे । फलतः सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन होने लगा । सामाजिक जटिलता में वृद्धि हुई । पहले आँखों की शरम या लोक-लिहाज का ख्याल रहता था । अब वह भी खत्म हो गया । गांव का व्यक्ति शहर में जाकर नौकरी करने लगा । इस प्रवृत्ति के कारण संयुक्त परिवार की भावना पर कुठाराघात हुआ जिसे हम "रंगभूमि" , गोदान" , "नदी फिर बह चली " जैसे उपन्यासों में दृष्टिगत कर सकते है ।

नगरीकरण की प्रवृत्तियाँ :

औद्योगीकरण के साथ ही नगरीकरण की प्रक्रिया संलग्नित है जिसका संकेत हम ऊपर कर चुके हैं । नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण ग्रामीण-जीवन के मूल्यों में भी परिवर्तन आया है । इसके फलस्वरूप मानव-संबंधों में भी एक विचित्र प्रकार की जटिलता का समावेश हुआ है । एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया का प्रारंभ 19वीं शताब्दी के अंतिम चरणों में हो गया था । सन् 1901 में नगरीय क्षेत्रों में जन-संख्या का प्रतिशत 10.84 था जो 1951 तक बढ़ते-बढ़ते 17.29 % हो गया था ।[33] एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार सन् 1951 में भारत में नगरों की कुल संख्या 2923 तक पहुंच गई थी ।[34]

इस बढ़ती हुई नगरीकरण की समस्या ने अनेक पारिवारिक, आर्थिक , सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया है । इसके कारण पुराने जीवन-मूल्यों के टूटने से समाज-जीवन में अनेक प्रकार की अनैतिकताओं का प्रवेश हुआ है । गांव अपने आप में एक इकाई होता है । उसमें कोई भी व्यक्ति कुछ भी करता है तो पूरे गांव का

ध्यान उस ओर आकर्षित होता है । इतना ही नहीं यदि वह कार्य अनैतिक एवं अनौचित्यपूर्ण होता है तो गांव-भर के लोग सामूहिक दृष्टि से उसका विरोध भी करते हैं । ग्रामीण जीवन की इस "अतिपरिचयता" के कारण जहां पुराने जीवन-मूल्यों की रक्षा होती है , वहां कई बार स्वागत-योग्य प्रगतिकामी बातों का विरोध भी होता है । जहां ग्रामीण जीवन में अतिपरिचयता का साया मिलता है , वहां नगरीय जीवन की आपाधापी में अति-अपरिचयता के दर्शन होते हैं । महानगरों में तो यह परिस्थिति हो गई है कि एक ही एपार्टमेण्ट में रहने वाले लोग परस्पर अपरिचित होते हैं । फलतः जीवन-मूल्यों में ह्रास की गति नगरीय परिवेश में क्षीप्रतम होती है । नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण ग्रामीण-जीवन चेतनाहीन और विक्षुब्ध हो रहा है , क्योंकि उसके पास जो भी श्रेष्ठतम है , जो भी सर्वोपरि है , वह नगराभिमुख हो रहा है । इस तथ्य की यंत्रणा और पीड़ा को डा. शिवप्रसाद सिंह द्वारा प्रणीत उपन्यास "अलग अलग वैतरणी " में हम देख सकते हैं । इस उपन्यास के जग्गन मिसिर के शब्द हमारे कानों में बार-बार गुंजित-अनुगुंजित होते हैं —

" आप जा रहे हैं विपिन बाबू , जाइये । कोई इसके लिए आपको दोष भी नहीं देगा । सभी जाते हैं । हमारे गांव से आजकल एकतरफा रास्ता खुला है । निर्यात । सिर्फ निर्यात । जो भी अच्छा है ; काम का है , यहां से चला जाता है । अच्छा अनाज , दूध , घी , सब्जी जाते हैं । अच्छे-मोटे ताजे जानवर , गाय-बैल , भेड़-बकरे जाते हैं । हट्टे-कट्टे मजबूत आदमी , जिनके बदन में ताकत है , देह में बल है , खींच लिये जाते हैं , पलटन में , पुलिस में । फैक्टरी में , मील में । फिर वैसे लोग जिनके पास अक्ल है , पढ़े-लिखे हैं , यहां कैसे रह जायेंगे ? वे जायेंगे

ही । आना ही होगा । ... जाते तो लोग पहले भी थे , मगर अक्सर वह जो जिन्हें काम नहीं मिलता था , या जमींदार के जोर-जुलुम से आजीज आ गये थे । पर अब तो एक नये तरह का असन्तोष हो रहा है । यहां रहते वे हैं , जो यहां रहना नहीं चाहते , पर कहीं जा नहीं पाते । यहां से अब जाते वे हैं , जो रहना तो चाहते हैं , पर रह नहीं पाते ।"[35]

इस संदर्भ में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यासों के आलोचक डा. चन्द्रकान्त देसाई ने जो कहा है , वह भी उल्लेख्य है —
" अलग अलग वैतरणी " की यह समस्या कुछ हद तक हमारे देश की समस्या भी है । हमारे देश का बुद्धिधन , हमारी सरस्वती , शनैः शनैः विदेश जा रही है । डा. चन्द्रशेखर , डा. नार्लिकर , डा. खुराना आदि प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा प्रसिद्ध सितार-वादक रविशंकर आदि इसके ज्वलंत उदाहरण हैं । दूसरी ओर गांव की प्रतिभा शहरों की ओर बढ़ती है , जिसमें गांव टूट रहे हैं , मूल्य टूट रहे हैं । नहीं टूटता है केवल अंधकार । ... जड़ता का अंधकार ।"[36]

इस प्रकार नगरीकरण से भारतीय जन-जीवन में जो बदलाव आया है उसे " मैला आँचल " , " नदी फिर बह चली " , "लोहे के पंख " , " सूखता हुआ तालाब " , " जल टूटता हुआ , " आधा गाँव " जैसे उपन्यासों में लक्षित किया जा सकता है ।

नगरीकरण की प्रक्रिया ने मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी बुरा असर डाला है । परिवार और विवाह-संस्था को भी उसने प्रभावित किया है । किन्तु नगरीकरण के कारण एक अच्छी बात यह हुई है कि उसके कारण जाति-प्रथा कुछ शिथिल हुई है । ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में नगरीय क्षेत्रों में अस्पृश्यता का स्वरूप भी कुछ कम ही नज़र आता

है ।

परन्तु इस नगरीकरण के कुछ दुष्परिणाम भी सामने आये हैं । नगरीकरण के कारण अपराधों में वृद्धि हुई है । सिनेमा , टेलिविज़न आदि ने लोकधर्मी मनोरंजन-विधाओं को लगभग खत्म कर दिया है । उसके स्थान पर सिनेमा ने अपने सस्ते मनोरंजन के द्वारा भारतीय जीवन-मूल्यों पर गहरा आघात किया है । नगरीकरण के कारण व्यक्तिवादी चिंतन भी बढ़ा है । उसके कारण संयुक्त परिवार की विभावना को चोट पहुँची है । शहरों में मकानों की समस्या भी एक बड़ी समस्या है । यहाँ तक कि गुजराती में इस संदर्भ में एक कहावत मिलती है — " शहेर मां रोटलो मळे पण ओटलो न मळे । " अर्थात् शहर में एक बार खाना तो मिल सकता है , पर रहने का स्थान मिलना मुश्किल है ।

नगरीय जीवन के कारण सहज-सरल जीवन के स्थान पर कृत्रिमता का समावेश हुआ है । उसके कारण धर्म का प्रभाव भी शनैः शनैः कम हो रहा है । लोगों का विश्वास टूट रहा है । पुराने जीवन-मूल्य है टूट रहे हैं । नगरीय परिवेश के लोगों में मानसिक तनाव और संघर्ष की मात्रा भी अधिक पाई जाती है । गाँवों की तुलना में नगरों में वेश्यावृत्ति की प्रवृत्ति भी अधिक पाई जाती है । यौन-अपराधों के आधिक्य के कारण नैतिक मूल्यों में अधिक गिरावट आ गई है ।[37]

अभिप्राय यह कि नगरीकरण के कारण भारतीय जन-जीवन में काफी परिवर्तन और जटिलता का समावेश हो गया है । इधर इन सब परिवर्तनों के उचित संवाहक के रूप में उपन्यास जैसी सशक्त विधा विकसित हुई है । इन सब सामाजिक-पारिवारिक परिवर्तनों को हम आलोच्य उपन्यासों में दृष्टिगत कर सकते हैं ।

परिवार पर नगरीकरण का प्रभाव :

नगरीकरण का सीधा प्रभाव हमारे परिवारों पर पड़ा है। शहरों में औद्योगिकरण, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, फैशनपरस्ती, फिल्मों का प्रभाव, भौतिकतावादी चिंतन, व्यक्तिवादी चिंतन आदि के कारण संयुक्त परिवार अब टूटते जा रहे हैं और विभक्त परिवार अस्तित्व में आ रहे हैं। पहले व्यक्ति पर परिवार के बड़े-बुजुर्गों का नियंत्रण होता था, परन्तु अब व्यक्तिवादी प्रवृत्ति जोर पकड़ रही है और पारिवारिक नियंत्रणों में शिथिलता आ रही है। नगरीकरण की प्रवृत्ति के कारण पति-पत्नी के पारस्परिक संबंधों में भी तनाव का अनुभव बढ़ रहा है और भावनात्मक संबंधों के स्थान पर अर्थ-केन्द्रित समझौते विकसित हो रहे हैं। भौतिकतावादी चिंतन परंपरा के कारण परिवार में वृद्ध लोगों का सम्मान कम हो रहा है। विवाह अब धार्मिक संस्कार न रहकर सामाजिक अनुबंध (contract) का रूप ले रहा है जिसके परिणाम-स्वरूप पश्चिम की भाँति हमारे यहाँ भी विवाह-विच्छेद की समस्या क्रमशः बढ़ रही है। अब प्रेम-विवाह, अंतर-जातीय विवाह, कोर्ट मैरेज आदि की घटनाओं में भी बढ़ोत्तरी हो रही है। विधवाश्रमों तथा बालिका-आश्रमों में नारी के नैतिक यौवन के नये-नये आयाम प्रकट हो रहे हैं। स्त्री-पुरुष समानता पर जोर देने के कारण महिलाएं अब सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षिक प्रभृति क्षेत्रों में आगे बढ़ रही हैं। यह उनका एक सकारात्मक पक्ष है। अब वह केवल "रसोई की रानी" मात्र नहीं रह गई है। परन्तु इस स्वतंत्रता का कहीं-कहीं उसे बड़ा भारी मूल्य भी चुकाना पड़ रहा है।

ऊपर 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ की जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है और उसके

कारण समाज में जिन क्लिष्ट परिस्थितियों का निर्माण हुआ है उसकी अभिव्यक्ति बहुत ही सशक्त ढंग से उपन्यास में हुई है ऐसा असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है ।

हिन्दी उपन्यास के विकास का संक्षिप्त ब्यौरा :

हमारे प्रबंध का विषय हिन्दी उपन्यास साहित्य के दो महा-दिग्गज उपन्यासकार — प्रेमचन्द और जैनेन्द्र – से सम्बद्ध है । अतः उभय साहित्यकारों तक के औपन्यासिक विकास पर एक विहंगम दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न समझा जायेगा । प्रेमचन्द का औपन्यासिक लेखन सन् 1918 से 1936 तक निहित है । जैनेन्द्र का लेखन शुरू तो प्रेमचन्दयुग में हुआ , किन्तु उसका सविशेष परिपाक प्रेमचन्दोत्तर युग में हुआ । लगभग सन् 1980 तक जैनेन्द्रजी लेखन के क्षेत्र में सक्रिय रहे हैं । अतः इस कालावधि के औपन्यासिक साहित्य पर बहुत संक्षेप में विचार करने का एक उपक्रम यहाँ है ।

प्रेमचन्द-पूर्व काल का हिन्दी उपन्यास-साहित्य :

हिन्दी साहित्य में उपन्यास अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की तरह 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से प्रारम्भ होता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लाला श्रीनिवासदास कृत "परीक्षागुरु" को हिन्दी का प्रथम उपन्यास माना है ।[38] परन्तु अधिकांश विद्वान अब इस तथ्य को अंगीकृत करने लगे हैं कि आर्य-समाजी पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी द्वारा लिखित "भाग्यवती" उपन्यास हिन्दी का प्रथम उपन्यास है । इसे एक सुखद संयोग भी कहा जा सकता है कि हिन्दी का यह प्रथम उपन्यास आधुनिक काल की ज्वलंत समस्या — नारी शिक्षा की समस्या — पर आधारित है । पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी तथा लाला श्रीनिवासदास के उपरांत इस

इस समय के अन्य उपन्यासकारों में बालकृष्ण भट्ट , मेहता लज्जाराम शर्मा , किशोरीलाल गोस्वामी , राधाकृष्णदास , अयोध्यासिंह उपाध्याय , देवकीनंदन खत्री , बाबू गोपालराम गहमरी , मन्नन द्विवेदी , ठाकुर जगन्नाथ प्रसाद सिंह इत्यादि मुख्य हैं । इस समय सामाजिक , ऐतिहासिक , जासूसी , तिलस्मी तथा अनुदित प्रकार के उपन्यास उपलब्ध होते हैं । तिलस्मी और जासूसी उपन्यास अद्यावधि मिल रहे हैं , परन्तु गंभीर साहित्य के अन्तर्गत इनकी कभी भी गणना नहीं हुई । परंतु हिन्दी उपन्यास के प्रारंभिक काल को देखते हुए शुरू में उसका उल्लेख हुआ है । अनुदित उपन्यासों का महत्त्व है , परन्तु उसकी गणना मौलिक साहित्य के अन्तर्गत नहीं होती । अनुदित होते हुए भी वे अपनी मूल भाषा की ही धरोहर समझे जाते हैं ।

ऊपर निर्दिष्ट किया गया है कि प्रेमचन्दपूर्वकाल में ऐतिहासिक उपन्यास भी उपलब्ध होते हैं । परन्तु वस्तुतः देखा जाय तो इस समय के ऐतिहासिक उपन्यासों को ऐतिहासिक उपन्यास न कहते हुए "ऐतिहासिक रम्याख्यान " [Historical Romances] कहना अधिक उचित रहेगा ।[39] इन उपन्यासों में ऐतिहासिक तत्त्व कम और कपोलकल्पित वृतान्त ज्यादा मिलते हैं ।

इस समय के सामाजिक उपन्यास भी स्थूल कथावस्तु प्रधान एवं कला की दृष्टि से अपरिपक्व अवस्था में मिलते हैं । उनमें कुतूहल और रोमांच का तत्त्व अधिक पाया जाता है । यथार्थ वस्तु-विन्यास और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इनको कमजोर कहा जा सकता है , तथापि इन उपन्यासों का एक ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है ।

प्रेमचन्दकालीन उपन्यास-साहित्य :

सन् 1918 से 1936 तक के कालखण्ड को हिन्दी कथा-साहित्य में "प्रेमचन्दयुग" नाम दिया गया है । वस्तुतः उपन्यास

साहित्य को उसकी वास्तविक गरिमा प्रेमचन्द द्वारा प्राप्त हुई । यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि प्रेमचन्द के पूर्व अन्य भाषा के उपन्यास तो हिन्दी में अनुदित होते थे , परन्तु हिन्दी के उपन्यासों का अनुवाद दूसरी भाषा के लोग नहीं करते थे । अभिप्राय यह कि वे लोग हिन्दी उपन्यास को उस योग्य नहीं समझते थे । परन्तु प्रेमचन्द के बाद हिन्दी उपन्यासों के अनुवाद भी अन्य भाषाओं में होने लगे ।

प्रेमचन्द ने उपन्यास में चरित्र-चित्रण की पद्धति को विकसित किया । डा. एस.एन. गणेशन के शब्दों में मानव-चरित्र की सही पहचान प्रेमचन्द के द्वारा ही प्राप्त हुई । [40] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रेमचन्द की लोकप्रियता को उजागर करते हुए कहा कि यदि कोई उत्तर भारत के गांव को , वहां के लोगों को , उनके रस्मो-रिवाजों को जानना-समझना चाहता है ; तो प्रेमचन्द

पढ़े । [41]

आदि मुख्य हैं । जिनमें गोदान" को तो कृषक-जीवन का महाकाव्य कहा गया है । प्रेमचन्द की गणना एक युगनिर्माता साहित्यकार के रूप में होती है । उन्होंने अपने समय के अनेक लेखकों को लिखने के लिए प्रेरित और उत्साहित किया था । प्रेमचन्दयुग के उपन्यासकारों में विश्वम्भरनाथ शर्मा " कौशिक " , पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" , ऋषभचरण जैन , सियारामशरण गुप्त , प्रतापनारायण श्रीवास्तव , आचार्य चतुरसेन शास्त्री , वृन्दावनलाल वर्मा , भगवतीप्रसाद वाजपेयी , राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह , सूर्यकान्त त्रिपाठी " निराला " , जयशंकर प्रसाद , उषादेवी मित्रा , तेजोरानी दीक्षित , गंगाप्रसाद मिश्र , उपेन्द्रनाथ अश्क , भगवतीचरण वर्मा , जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी इत्यादि को परिगणित कर सकते हैं ।

इनमें अंतिम तीन उपन्यासकारों का लेखन प्रेमचन्दयुग में शुरू तो हो गया था , परन्तु उसे विस्तार और ख्याति तो प्रेमचन्दोत्तर युग में ही मिली । इस समय समस्यामूलक सामाजिक उपन्यासों का जादू कुछ इस कदर छाया हुआ था कि आचार्य चतुरसेन शास्त्री तथा वृन्दावनलाल वर्मा जैसे ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने भी इस कालावधि में कतिपय सामाजिक उपन्यास दिये । जिस प्रकार यथार्थमूलक सामाजिक उपन्यासों का सूत्रपात वास्तविक दृष्टया प्रेमचन्द से हुआ ; ठीक उसी प्रकार जिन्हें वास्तविक रूप से ऐतिहासिक कह सकें ऐसे उपन्यासों का सूत्रपात प्रेमचन्दयुग में शास्त्रीजी और वर्माजी द्वारा हुआ । प्रेमचन्दयुग में बोलबाला तो सामाजिक उपन्यासों का ही रहा है , परन्तु इस युग के अंतिम चरण में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात जैनेन्द्र तथा इलाचन्द्र जोशी जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों द्वारा हो गया था । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की विस्तृत प्रवृत्ति तो प्रेमचन्दयुग में उपलब्ध होती है , परन्तु उसका बीजवपन वहाँ हो गया था ।

प्रेमचन्दयुग के प्रमुख उपन्यासों में प्रेमचन्द के उपन्यासों के अतिरिक्त निम्नलिखित उपन्यासों को उल्लेख्य समझा जा सकता है :- "माँ", "भिखारिणी" (कौशिक); "घण्टा", "बुधुआ की बेटी" (उग्र); "हृदय की प्यास", "अमर अभिलाषा" (आचार्य चतुरसेन शास्त्री); "गढ़ कुण्डार", "विराटा की पद्मिनी" (वृन्दावनलाल वर्मा); "त्यागमयी", "प्रेम-निर्वाह" (भगवतीप्रसाद वाजपेयी); "भाई", "गदर", "सत्याग्रह" (ऋषभचरण जैन); "कंकाल" (जयशंकर प्रसाद); "अप्सरा", "निरुपमा" (निराला); "नारी हृदय" (शिवरानी देवी); "बचपन का मोल" (उषादेवी मित्रा); "हृदय का काँटा" (तेजोरानी दीक्षित); "मदारी" (गोविन्द वल्लभ पंत); "चित्रलेखा" (भगवतीचरण वर्मा); "परख", "सुनीता" (जैनेन्द्र) आदि आदि।[42]

प्रेमचन्दोत्तर काल (सन् 1937 - 1988) :
=====================================

प्रेमचन्द का निधन सन् 1936 में हुआ। अतः सन् 1937 के बाद के युग को हमने "प्रेमचन्दोत्तर युग" से अभिहित किया है। प्रेमचन्द के अतिरिक्त जैनेन्द्र हमारी विवेचना के केन्द्र में है और उनका निधन सन् 1988 में हुआ। अतः इस कालखण्ड के भीतर हमने सन् 1937 से सन् 1988 तक की औपन्यासिक कृतियों को लिया है। जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, प्रेमचन्दयुग में औपन्यासिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से मुख्य रूप से सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास उपलब्ध होते हैं। किन्तु प्रेमचन्दोत्तर काल में औपन्यासिक प्रवृत्तियों में अनेकविधता पाई जाती है। प्रेमचन्दोत्तर काल की इन विविध औपन्यासिक प्रवृत्तियों को हम निम्नलिखित प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं :-

(1) सामाजिक उपन्यास
(2) ऐतिहासिक उपन्यास
(3) मनोवैज्ञानिक उपन्यास
(4) समाजवादी उपन्यास
(5) आंचलिक उपन्यास
(6) पौराणिक उपन्यास
(7) राजनीतिक उपन्यास
(8) व्यंग्यात्मक उपन्यास

अब प्रस्तुत शोध में क्रमशः उन पर विचार करने का उपक्रम है।

(1) सामाजिक उपन्यास :

सामाजिक उपन्यासों की धारा उपन्यास के प्रारंभिक काल से ही प्रवाहित हो रही है। पूर्व-प्रेमचन्दकाल में उसमें भावुकता एवं आदर्शवादिता का पुट अधिक था। प्रेमचन्द ने उसे आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद का रूप देते हुए, अन्ततः उसे यथार्थवादी परिणति दी। प्रेमचन्द के पश्चात् भी सामाजिक उपन्यासों की यह धारा उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतीचरण वर्मा, प्रतापनारायण श्रीवास्तव गंगाप्रसाद मिश्र, अमृतलाल नागर, हिमांशु श्रीवास्तव, हिमांशु जोशी, जगदीशचन्द्र, डा. शिवप्रसादसिंह, डा. रामदरश मिश्र, डा. राही मासूम रज़ा, , गुलशेरखान शानी, शैलेश मटियानी, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, मंजुल भगत, कृष्णा अग्निहोत्री, निरुपमा सेवती प्रभृति उपन्यासकारों द्वारा निरंतर प्रवाहित रही है। इस कालावधि की प्रमुख सामाजिक औपन्यासिक उपलब्धियों में "गिरती दीवारें", "टेढ़े-मेढ़े रास्ते", बयालीस, "ज़हर चाँद का", "अमृत और विष", "नदी फिर बह चली", "छाया मत छूना मन", "धरती धन न अपना", "अलग अलग वैतरणी", "जल टूटता हुआ"

"आधा गाँव", "कालाजल", "आकाश कितना अनंत है", "महाभोज", "जिंदगीनामा", "अजारो", "टपरेवाले", "बंटता हुआ आदमी"[43] इत्यादि को गिनाया जा सकता है।

(2) ऐतिहासिक उपन्यास :

यद्यपि ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात प्रेमचन्दयुग में सर्वश्री वृन्दावनलाल वर्मा तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री द्वारा हो गया था, तथापि उसका विकास प्रेमचन्दोत्तर काल में ही परिलक्षित होता है। उक्त दो उपन्यासकारों के अतिरिक्त प्रेमचन्दोत्तर काल में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल, रांगेय राघव, महापंडित राहुल सांकृत्यायन, शिवसागर मिश्र, भगवतीशरण मिश्र, अमृतलाल नागर इत्यादि ऐतिहासिक उपन्यासकार मिलते हैं। उनकी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक औपन्यासिक कृतियों में "रानी लक्ष्मीबाई", महादजी सिंधिया, "मृगनयनी", (वृन्दावनलाल वर्मा); "सोना और खून" "वैशाली की नगरवधू", जय सोमनाथ (आचार्य चतुरसेन शास्त्री); "बाणभट्ट की आत्मकथा", "चारु चन्द्रलेख", "पुनर्नवा", "अनामदास का पोथा" (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी); "दिव्या", अमिता, (यशपाल); "मुर्दों का टीला", "कब तक पुकारूँ" (रांगेय राघव); "सिंह सेनापति", "जय यौधेय" (महापंडित राहुल सांकृत्यायन); "मगध की जय" (शिवसागर मिश्र); "पीताम्बरा", "पहला सूरज" (भगवतीशरण मिश्र); "सुहाग के नूपुर", मानस का हंस", "खंजननयन" (अमृतलाल नागर) इत्यादि को परिगणित कर सकते हैं। उपर्युक्त ऐतिहासिक उपन्यासों में निहित ऐतिहासिक दृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकार की है।

§3§ मनोवैज्ञानिक उपन्यास :

19वीं शताब्दी में फ्रायड, एडलर, युंग प्रभृति मनोवैज्ञानिकों के मनोविश्लेषण संबंधी आविष्कारों के परिणाम-स्वरूप यह तथ्य स्वीकृत हो चला कि मानव-जीवन में समस्याएं केवल सामाजिक, पारिवारिक या आर्थिक ही नहीं होतीं, अपितु कुछ समस्याएं आंतरिक -- मानसिक या मनोवैज्ञानिक भी होती हैं। मनुष्य का मन बड़ा विचित्र एवं पेचीदा होता है। उसकी अतल गहराइयों के रहस्यों को समझ पाना अत्यन्त कठिन है। उक्त मनोवैज्ञानिकों ने चेतन मन §Conscious mind§ के उपरांत अचेतन मन §un-consciuS mind § की खोज की। जैसे समुद्र में स्थित हिमगिरि §Ice burg § का केवल एक हिस्सा पानी के ऊपर रहता है, और शेष आठ हिस्से पानी में रहते हैं; ठीक उसी प्रकार अचेतन मन चेतन मन से आठ गुना बड़ा होता है। हम जिसे विस्मृति कहते हैं, वैसा कुछ होता नहीं है। वस्तुतः विस्मृति की घटना चेतन मन से सम्बद्ध है। परन्तु जन्म से लेकर मनुष्य की साम्प्रतिक अवस्था तक के सारे जीवनानुभवों की स्मृति लिबिडो §Libido § में संगृहीत होती रहती है। और यह लिबिडो ही अचेतन मन को चौबीसों घण्टों प्रभावित करता रहता है। फलतः मनुष्य के जीवन में कई बार कुछ ग्रन्थियों का निर्माण होता है, जिनमें निम्नलिखित को परिगणित कर सकते हैं : -- 1. लघुता ग्रन्थि §Inferiority complex §, 2. प्रभुत्वग्रंथि §Superiority comlex§, 3. इलेक्ट्राग्रंथि §Electra Complex §, 4. इडिपस ग्रन्थि §Idipos Complex §, 5. बद्धत्वग्रन्थि § Fixation §, 7. आत्मपीड़क ग्रन्थि §Machoiest §, 7. परपीड़क ग्रन्थि § Saddist §।

उपर्युक्त ग्रन्थियों के अतिरिक्त इद [Ide] , ईगो [Ego] , सुपरईगो [Superego] , बहिर्मुखी चरित्र [Extrovert character] , अन्तर्मुखी चरित्र [Introvert Character] , जस्टीफिकेशन [Justification] , डिसप्लेसमेण्ट जैसी मनोवैज्ञानिक अवधारणाओं पर भी यहाँ विचार किया जाता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में लेखक का ध्यान मनोवैज्ञानिक क्षणों [psychological moments] के उरेहण की ओर अधिक रहता है । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में जैनेन्द्र , इलाचन्द्र जोशी , अज्ञेय , डा. देवराज , डा. रघुवंश , मोहन राकेश , रमेश बक्षी , कमलेश्वर , मन्नू भण्डारी , निर्मल वर्मा , कृष्णा सोबती , मृदुला गर्ग , दीप्ति खंडेलवाल , निरुपमा सेवती , मालती जोशी प्रभृति उपन्यासकारों को परिगणित कर सकते हैं । इनके प्रमुख उपन्यासों में [प्रेमचन्दोत्तर] मुक्तिबोध , प्रेत और छाया , नदी के द्वीप , अजय की डायरी , संतुलन , अंधेरे बन्द कमरे , अठारह सूरज के पौधे , तीसरा आदमी , आपका बण्टी , वे दिन , सूरजमुखी अंधेरे के , चित्तकोबरा , प्रिया , पतझर की आवाजें , पार्श्वचुम्ब आदि को गिनाया जा सकता है । [44]

[4] समाजवादी उपन्यास :

समाजवादी उपन्यास भी होते तो सामाजिक या ऐतिहासिक ही हैं , परन्तु उनमें निहित दृष्टि समाजवादी , मार्क्सवादी या प्रगतिवादी होती है । समाजवादी चिंतन कार्ल मार्क्स , एंजिल तथा लेनिन आदि मार्क्सवादी चिंतकों के सिद्धान्तों पर आधारित है जिसमें मुख्यतया सामंतवादी-पूंजीवादी जीवन-मूल्यों की भर्त्सना की जाती है । मार्क्सवादी चिंतन आम आदमी की चिन्ता को लेकर चलता है । फलतः समाज में चलने-

वाले किसी भी प्रकार के शोषण के खिलाफ वह ताल ठोककर खड़ा हो जाता है । दूसरे शब्दों में हम मार्क्सवाद को शोषितों का पक्षधर तथा शोषकों का विरोधी करार दे सकते हैं । बुर्जुवा समाज में धर्म और शास्त्र को लेकर अनेक शोषणोन्मुखी बातें चलती हैं, यही कारण है कि मार्क्सवादी लोग धर्म की तुलना अफीम से करता है । कहा जाता है कि अपने आखिरी दिनों में प्रेमचन्द की विचारधारा मार्क्सवादी हो चली थी । परन्तु मार्क्सवाद का विकास तो प्रेमचन्दोत्तर काल में ही हुआ है । मार्क्सवादी उपन्यासों में दादा कामरेड, पार्टी कामरेड, झूठा सच, तेरी मेरी उसकी बात {यशपाल}; मुर्दों का टीला, कब तक पुकारूं {रांगेय राघव}; सिंह सेनापति, जय यौधेय {महापंडित राहुल सांकृत्यायन}; रतिनाथ की चाची, बलचनमा, बाबा बटेसरनाथ, दुखमोचन, वरुण के बेटे (?) ... इमरतिया {नागार्जुन}; सतीमैया का चौरा {भैरवप्रसाद गुप्त}; शहीद और शोहदे {मन्मथनाथ गुप्त}; हाथी के दांत {अमृतराय}; धरती धन न अपना {जगदीशचन्द्र}; नदी फिर बह चली {हिमांशु श्रीवास्तव}; सूत्रधार {जगदंबा प्रसाद दीक्षित} इत्यादि उपन्यासों को लिया जा सकता है ।

{5} आंचलिक उपन्यास :

यह एक दिलचस्प घटना है कि विभिन्न औपन्यासिक विधाएं न्यूनाधिक रूप में इसके तत्वों से निःसृत हुई हैं । इस दृष्टि से देखा जाए तो आंचलिक उपन्यास को हम वातावरण प्रधान उपन्यास कह सकते हैं । "वातावरण" का तत्व तो प्रत्येक प्रकार के उपन्यास में होता है । किन्तु आंचलिक उपन्यास के संदर्भ में वह उसका प्राण-तत्व हो जाता है । यहाँ वातावरण अपनी पूरी सज-धज के साथ आता है । वस्तुतः

आंचलिक उपन्यासों में वातावरण का तत्व नायकत्व को प्राप्त कर लेता है । यहाँ पर एक अंचल विशेष का जीवन — उसके तमाम-तमाम लोग , उनकी बोली-ठोली , उनकी मान्यताएं , उनके विश्वास और अंध-विश्वास , उनके तीज-त्यौहार , उनके लोकगीत, लोक-नाट्य , लोक-परंपराएं — अपनी समूची सम्पदा और समग्रता के साथ अवतरित होता है । डा. सत्यपाल चुघ के अनुसार आंचलिक शिल्प विधान के उपन्यासों में उपन्यास के सभी उपकरणों का दृष्टि-केन्द्र या प्रकाशन-ध्येय परिसीमित देश (क्षेत्र-विशेष) हो जाता है और अन्य तत्व इसीसे नियत-निर्मित होते हैं ।[45]

डा. शिवसहाय त्रिपाठी आंचलिक उपन्यासों के संदर्भ में कहते हैं —" इस तरह आंचलिकता के शिल्पगत होने के कारण उसकी मर्यादा ग्रामीण अंचलों तक सीमित करना वांछनीय नहीं है । अगर एक ग्राम या वन-अंचल पर लिखा गया शिल्पगत वैशिष्ट्य वैशिष्ट्य से युक्त उपन्यास आंचलिक है , तो कोई कारण नहीं कि शिल्प की उसी विशेषता को अक्षुण्ण रखकर किसी नगर के एक मुहल्ले पर लिखा गया उपन्यास आंचलिक न होगा । ऐसे उपन्यास को "अंचल" शब्द के किसी विशेष तत्व के कारण और न किसी प्रकार के पारिभाषिक तत्व के कारण आंचलिक वर्ग से बहिष्कृत कर सकते हैं ।" [46]

तिवारीजी की उक्त मान्यता के अनुसार यदि कोई नगरीय अंचल भी अपनी समग्रता में अभिव्यक्ति पाता है तो वह आंचलिक उपन्यास की सीमा में आ सकता है । अमृतलाल नागर कृत " बूँद और समुद्र " में नगर के एक मुहल्ले का चित्रण किया गया है , अतः अपने आंचलिक स्थापत्य के कारण इसे आंचलिक उपन्यास की कोटि में रखा जा सकता है ।

डा. प्रदीपकुमार शर्मा के मतानुसार —" प्रत्येक आंचलिक उपन्यास का एक चुना हुआ विशिष्ट क्षेत्र होता है , जिसकी अपनी भौगोलिक , सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताएं होती हैं । उनकी अपनी रूढ़ियाँ , परंपराएं , रीति-रिवाज एवं जीवनयापन का विशिष्ट ढंग सुरक्षित रहता है । कथाकार इन्हीं विशेषताओं को उजागर करके उस विशिष्ट क्षेत्र को एक चरित्र के रूप में उपस्थित करता है । ... कथाकार आंचलिक जीवन को जितनी अधिक पूर्णता के साथ स्थापित करता है , वह उतना ही समर्थ आंचलिक कथाकार कहा जायेगा ।"[47]

आंचलिकता के संदर्भ में डा. पारुकान्त देसाई का निम्न-लिखित अभिमत भी ध्यातव्य रहेगा —" आजकल के कुछ उपन्यासों में तो देशकाल का चित्रण वैज्ञानिक सीमा तक पहुंच गया है । पश्चिम में हार्डी के वेसेक्स नावेल्स अपनक ज्योग्राफिकल सेटिंग्स के कारण ही विख्यात हैं" । इसी तत्व के आधार पर अंग्रेजी में आयरिश नावेल, स्कोट नावेल जैसे कुछ प्रकार प्रचलित हुए हैं । हिन्दी में आंचलिक उपन्यासों के लिए आंचलिक उपन्यासों के लिए देशकाल या वाता-वरण मानो प्राणतत्व है । आंचलिक उपन्यास का वास्तविक मक नायक वातावरण ही है ।"[48]

हिन्दी में आंचलिक उपन्यास का सूत्रपात सन् 1954 में फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास "मैला आंचल " से हुआ । "आंचलिक" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भी रेणु ने इसी उपन्यास के संदर्भ में किया था । "मैला आंचल " के अतिरिक्त परती परिकथा " (रेणु) , "सागर लहरें और मनुष्य " (उदयशंकर भट्ट) , "जंगल के फूल " (राजेन्द्र अवस्थी) , "वरुण के बेटे " (नागार्जुन) , "कब तक पुकारूं (रांगेय राघव) , " बबूल " (विवेकीराय) , "अलग अलग वैतरणी " (डा. शिवप्रसाद सिंह) , " नदी फिर बह चली " (हिमांशु श्रीवास्तव) प्रभृति उपन्यासों की कोटि में

रख सकते हैं ।

§6§ पौराणिक उपन्यास :

ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यास में अंतर यह है कि ऐतिहासिक उपन्यास जहाँ वास्तविक - ऐतिहासिक घटनाओं तथा तथ्यों पर आधारित होते हैं, वहाँ पौराणिक उपन्यास पौराणिक वृत्तान्तों को लेकर चलते हैं । यह तो एक सर्वविदित तथ्य है कि हमें अभी केवल ढाई-तीन हजार वर्षों का इतिहास ही ज्ञात है । अतः उसके पूर्व का जो कुछ भी है, उसे "पौराणिक" की संज्ञा मिलती है । रामायण उपन्यासमाला तथा महाभारत उपन्यासमाला § डा. नरेन्द्र कोहली §, प्रथम पुरुष, पवनपुत्र § डा. भगवतीशरण मिश्र § "अनामदास का पोथा" § आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी § प्रभृति उपन्यासों को हम इस कोटि में रख सकते हैं । पौराणिक उपन्यासकारों में भी हमें दो प्रकार के उपन्यासकार मिलते हैं । एक वे हैं जो पौराणिक वृत्तान्तों में अधिक परिवर्तन न करते हुए उनमें अन्तर्निहित चमत्कार के तत्व को बरकरार रखते हैं; दूसरे वे हैं जो पौराणिक मिथकों का आधुनिक तरीके से स्पष्टीकरण देते हैं । प्रथम में डा. भगवतीशरण मिश्र जैसे लेखक आते हैं, तो दूसरे में डा. नरेन्द्र कोहली जैसे ।

§7§ राजनीतिक उपन्यास :

राजनीतिक उपन्यास भी होते तो सामाजिक ही हैं, परन्तु उनमें राजनीतिक चेतना अधिकांशतः और असंदिग्धतया विद्यमान होती है । प्रेमचन्द के "सेवासदन" उपन्यास में कतिपय राजनीतिक सूत्र उपलब्ध होते हैं, परन्तु जिसे संपूर्णतया राजनीतिक-चेतना संपन्न उपन्यास कह सकें ऐसा उपन्यास "प्रेमाश्रम" ही था । प्रेमचन्दोत्तरकाल में राजनीतिक चेतना से संपन्न उपन्यासों

की एक स्पष्ट धारा दृष्टिगत होती है । भगवतीचरण वर्मा कृत "टेढ़े मेढ़े रास्ते ", " प्रश्न और मरीचिका ", " सब हि नचावत राम गोसाईं " ; यशपाल कृत "झूठा सच" ; " तेरी मेरी उसकी बात " ; मन्मथनाथ गुप्त कृत "शहीद और शोहदे " ; भैरवप्रसाद गुप्त कृत "सत्ती मैया का चौरा " ; नागार्जुन कृत "बलचनमा" , "दुखमोचन " हीरक जयंती " , " उग्रतारा " ; डा. राही मासूम रज़ा कृत " आधागाँव " तथा "टोपीशुक्ला" ; डा. शिवप्रसाद सिंह कृत "अलग अलग वैतरणी " , डा. रामदरश मिश्र कृत "जल टूटता हुआ " तथा "सूखता हुआ तालाब " ; हिमांशु श्रीवास्तव कृत " नदी फिर बह चली " ; गोपाल उपाध्याय कृत "एक टुकड़ा इतिहास " ; श्रीलाल शुक्ल कृत "राग दरबारी " ; मन्नू भंडारी कृत "महाभोज " , जैनेन्द्रकुमार कृत "मुक्तिबोध " प्रभृति उपन्यासों को हम राजनीतिक धारा के उपन्यासों के अन्तर्गत रख सकते हैं । यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि कई बार एक ही उपन्यास अलग-अलग प्रवृत्तियों का द्योतन करता है ।

(७) व्यंग्यात्मक उपन्यास :

यह देखा जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास प्रेमचन्दपूर्व-काल से ही सामाजिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के खिलाफ कटिबद्ध रहा है । इसलिए तो बहुत-से आलोचक उपन्यास साहित्य को "Literature of discard" अर्थात् "विरोध का साहित्य " कहते हैं । अतः उपन्यास का एक मुख्य औज़ार व्यंग्य है । फलतः यह प्रारंभ से ही उपन्यास में मिलता है । बालकृष्ण भट्ट , मेहता लज्जाराम शर्मा , मन्नन द्विवेदी जैसे पूर्व-प्रेमचन्दकाल के लेखकों में तथा प्रेमचन्द , पाण्डेय बेचन शर्मा

"उग्र" , उपेन्द्रनाथ अश्क , आदि प्रेमचन्दकालीन लेखकों के उपन्यासों में यत्र-तत्र व्यंग्य के छींटे उपलब्ध होते हैं । परन्तु व्यंग्यात्मक उपन्यास केवल उसको कहा जायेगा जो आद्यन्त व्यंग्य -विदग्धता से आपूरित होंगे ।

"व्यंग्य " शब्द " वि + अंग " से उत्पन्न हुआ है । अर्थात् जब किसी वस्तु का कोई अंग अपने उचित स्थान या स्वभाव में नहीं होता , तब व्यंग्य की सृष्टि होती है । उदाहरणतया किसी संस्था में जैसे कार्य होना चाहिए , वैसे ही यदि कार्य होता है , तो व्यंग्य के लिए कोई कारण न रहेगा । लेकिन अगरये उसके विपरीत होता है तो वह व्यंग्य का उपादान अवश्य बनता है । डा. पारू-कान्त देसाई ने अपनी व्यंग्य निबंधों की पुस्तक "कबिरा खड़ा बाज़ार में " की भूमिका में लिखा है --

" सामाजिक , धार्मिक , राजनीतिक , शैक्षिक प्रभृति क्षेत्रों में व्याप्त विसंगतियाँ , विषमता , विद्रूपता एवं विकलांगता ही व्यंग्य के मूल कारक हैं ।" [49] व्यंग्य के साथ प्रायः हास्य को सम्बद्ध किया जाता है , परन्तु हास्य और व्यंग्य में काफी अंतर है । हास्य निर्दोष होता है , उसमें कटुता और तिक्तता भी नहीं होती , जबकि व्यंग्य में ये तीनों चीजें होती हैं । उसका उद्देश्य ही कई बार व्यक्ति के मनो-मस्तिष्क पर चोट पहुँचाकर तिलमिला-हट पैदा करना होता है ।" हास्य का उद्देश्य मानसिक तनाव कम करना है । विपरीत इसके व्यंग्य का उद्देश्य मानसिक तनाव पैदा करके विद्रोह की भावना पैदा करना है । हास्य "कॉमेडी" के निकट है , व्यंग्य "सैटायर" के । "सेटायर " शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन शब्द " सैटरस" से मानी गई है । यह "सैटरस" एक विचित्र प्रकार का जन्तु हुआ करता था । अतः व्यंग्य की विचित्रता को लक्षित करके कदाचित् उससे यह शब्द उत्पन्न हुआ होगा । [50]

हास्य और व्यंग्य के अंतर को स्पष्ट करते हुए आंग्ल-विवेचक मरीडिथ ने लिखा था — "IF you detect the ridicule and you kindliness is chilled by it you are slipping into the grasp of satire".51 अर्थात् यदि हम किसी हास्य के आलंबन का इतना मज़ाक उड़ाते हैं कि उसके प्रति हमारी दयालुता समाप्त हो जाती है, तो हम हास्य के क्षेत्र से व्यंग्य के क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं।

श्रीलाल शुक्ल कृत "राग दरबारी" उपन्यास व्यंग्यात्मक उपन्यासों का एक प्रतिमान है। इसके अतिरिक्त "कथा-सूर्य की नयी यात्रा" (हिमांशु श्रीवास्तव), "दिल एक सादा कागज़" (डा. राही मासूम रज़ा), "सब ही नचावत राम गोसाईं" (भगवती-चरण वर्मा), "एक चूहे की मौत" (बदी उज्जमां), "कुरु-कुरु स्वाहा" तथा "नेताजी कहिन" (मनोहरश्याम जोशी), "जंगल-तंत्रम्" (श्रवणकुमार गोस्वामी) आदि उपन्यासों को हम व्यंग्यात्मक उपन्यासों की श्रेणी में रख सकते हैं।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि प्रेमचन्दोत्तर काल में वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से अनेकानेक औपन्यासिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ है। जहाँ तक प्रबंध के आलोच्य उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द तथा जैनेन्द्र का सवाल है, उक्त औपन्यासिक प्रवृत्तियों में से सामाजिक, समाजवादी, राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ उनकी अनुवर्तिनी रही हैं।

आलोच्य लेखकों की समय-सीमा तक विकसित नारी-विभावना :

प्रेमचन्द का लेखनकाल हिन्दी में सन् 1918 से प्रारंभ होता है, और उनका निधन सन् 1936 में हुआ था। जैनेन्द्रजी का लेखन-कार्य प्रेमचन्दयुग के अंतिम चरण में शुरू होता है और उनका निधन सन् 1988 में हुआ था। अतः जब इन दोनों लेखकों द्वारा सृष्ट नारी-

पात्रों पर विचार करना हो , तो हमें उनके रचना-काल में नारी-विभावना को लेकर क्या स्थिति रही है , इस पर भी विचार कर लेना चाहिए क्योंकि प्रत्येक लेखक , बड़ा लेखक , जहाँ अपने समय का पथ-प्रदर्शन करता है , वहाँ वह सामयिक स्थितियों की निपज भी होता है । उदाहरणतया पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी द्वारा प्रणीत "भाग्यवती" उपन्यास में लेखक द्वारा यह बताया गया है कि कि जब भाग्यवती के पति को अपनी गलती का बोध होता है , तब वह भाग्यवती को बुला लेता है और उसके बुलाने पर भाग्यवती चली भी जाती है । अब यदि इधर का कोई नारी-वादी इसको लेकर यह कहे कि भाग्यवती में स्वाभिमान जैसी कोई चीज़ है कि नहीं तो उसे उपयुक्त नहीं कहा जा सकता , क्योंकि "भाग्यवती" 1878 का उपन्यास है और उस समय की जो नारी-चेतना थी , उसको देखते हुए भाग्यवती की नारी-चेतना सबसे अधिक प्रखर मानी जा सकती है । निश्चित रूप से "भाग्यवती" की नारी-चेतना नीलिमा (अँधेरे बन्द कमरे) , शकुन (आपका बण्टी - मन्नू भण्डारी) या रायना (वे दिन -- निर्मल वर्मा) की नारी-चेतना से दूर पड़ेगी , परन्तु अपने समय सत्य के हिसाब से उसकी नारी-चेतना को अग्रगामी ही कहा जा सकता है ।

भारतीय इतिहास एवं संस्कृति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्राचीनतम समय में , अर्थात् वैदिक समय में , स्त्रियों की स्थिति कुछ सम्मानजनक थी । परन्तु उसके बाद लगातार-लगातार उसमें गिरावट आती गई और ब्रिटिश-काल तक तो स्त्रियों की स्थिति बहुत बुरी हो चुकी थी ; सामाजिक , धार्मिक , आर्थिक , दैहिक हर दृष्टि से उसका शोषण हो रहा था । सवर्ण समाज के सोलह संस्कारों में से केवल दो ही संस्कार

उसके लिए रह गये थे । पुत्र और पुत्री के जन्म को लेकर हिन्दू समाज में भेदभावयुक्त नीति पायी जाती है । भाषा में जो शब्द प्रचलित होते हैं वे भी हमारी सामाजिक मान्यताओं के साक्ष्य हो सकते हैं । गुजरात के गाँवों में (शहरों में भी चालीस-पचास साल पहले तक) लड़का पैदा होने पर कहा जाता है कि "फलां-फलां के यहां "निशाळिया" आया " और लड़की के जन्म पर कहा जाता था " फलां-फलां के यहां "मांडवा" आया " । * इससे यह स्पष्टतया फलित होता है कि लड़के को पढ़ाना है और लड़की को पढ़ाना नहीं है , उसकी तो समय रहते शादी कर देनी है ।

प्रेमचन्दपूर्वकाल के लेखकों में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी , लाला श्रीनिवासदास , पंडित बालकृष्ण भट्ट , मन्नन द्विवेदी प्रभृति लेखकों की नारी-विभावना तत्कालीन नवजागरण के आंदोलन से प्रभावित थी । अतः वे लोग नारी-शिक्षा , विधवा-विवाह, बालिका-विवाह का विरोध , दहेज-प्रथा का विरोध जैसे नारी के मानवीय अधिकारों से संयुक्त मुद्दों को अपने उपन्यासों में अवतरित कर रहे थे । ये लेखक नवसुधारवादी थे और हिन्दू समाज में व्याप्त रूढ़िमूलक अप्रगतिकामी विचारों का विरोध अपने लेखन के माध्यम से कर रहे थे । ठीक उसी समय मेहता लज्जाराम शर्मा , किशोरीलाल गोस्वामी , राधाचरण गोस्वामी प्रभृति लेखक सनातनपंथी थे और स्त्री-विषयक विभावना में वे "यथास्थितिवाद" के पक्षपाती थे । इन लेखकों का सूत्र था " ओल्ड इज़ गोल्ड " जबकि इनसे कई सदियों पहले कालिदास लिख चुके थे — " पुराणमित्येव न साधु सर्वम् । "

उसके बाद प्रेमचन्दयुग आता है । प्रेमचन्द के समय तक सुधारवादी आंदोलनों ; दयानंद सरस्वती , राजा राममोहनराय ,

केशवचन्द्र सेन , ईश्वरचन्द्र विद्यासागर , महात्मा ज्योतिबा फुले , सावित्रीबाई फुले , महादेव गोविन्द रानडे , पंडिता रमाबाई , श्रीमती एनी बेसण्ट , सरोजिनी नायडू , महात्मा गांधी , कमला-देवी चट्टोपाध्याय प्रभृति महानुभावों के कारण स्त्री-विषयक विभावना में नारी-चेतना की मुहिम उभरकर आती है । अतः नारी-उद्धार को लेकर पिछले मुद्दे तो चालू ही रहते हैं , परन्तु उसके साथ-साथ उनमें कुछ नये मुद्दों का इज़ाफा होता है । जैसे स्त्री-पुरुष समानता का विचार , स्त्रियों का मताधिकार , स्त्रियों का संपत्ति में अधिकार , लड़के-लड़की के विवाह में विवाह-योग्य आयु में बढ़ोतरी करने की मांग आदि बातों पर समाज के विचारवंत लेखकों का ध्यान जाता है । अन्तरजातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिलता है । प्रेमचन्द के समय में सुशिक्षित नारी घर की चहारदिवारी के बाहर आकर समाजसेवा तथा राजनीति के क्षेत्र में हिस्सेदारी करने लगती है । सेवासदन , गबन , कर्मभूमि , रंगभूमि , गोदान प्रभृति उपन्यासों में नारी के इन बढ़ते कदमों को हम रेखांकित कर सकते हैं । यहां एक और तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगी कि समग्र-तया देखने पर उच्चवर्गीय समाज की अपेक्षा निम्नवर्गीय जातियों में नारी-दासता का प्रमाण कम पाया जाता है । वस्तुतः वहां नारी का शोषण घर-परिवारवालों की ओर से न होकर उच्चवर्गीय लोगों की ओर से होता है । प्रेमचन्द-साहित्य में बुलाकी , सुभागी , मुनिया , धनिया , सिलिया जैसी तेजस्वी नारियां मिलती हैं । उच्चवर्गीय समाज में ऐसे पात्र केवल वहां दृष्टिगोचर होते हैं जहां स्त्री अधिक शिक्षित होती है । "रंगभूमि" की "सोफिया" , तथा "गोदान" की मालती आदि उसके उदाहरण हैं" ।

आलोच्य लेखकों में प्रेमचन्द का निधन सन् 1936 में हुआ । किन्तु जैनेन्द्रजी का निधन सन् 1988 में हुआ । अतः प्रबंध में उक्त नारी-विषयक विभावना की चर्चा नवें दशक तक की रहेगी । इधर नारी-शिक्षा का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ा है । ग्रामीण-अंचलों, ब्लॉकों और कस्बों में भी हाईस्कूल खुल गये हैं । कहीं-कहीं तो कालिजों की भी स्थापना हो गई है । इस प्रकार स्थानीय xxxx स्तर पर शिक्षा का प्रबंध हो जाने पर नारी-शिक्षा के परिमाण में वृद्धि हुई है । पश्चिम में जो नारी-मुक्ति आंदोलन चला तथा समाजवादी तबकों में स्त्री-पुरुष गैर-बराबरी के खिलाफ जो मुहिम चली उसका भी कुछ प्रभाव परिवर्तित नारी-विभावना पर पड़ा है ।

डा. नीरा देसाई, प्रमुला त्रिपाठी, xxx डा. गोपाल शास्त्री नेने, डा. नीलम गोयेल, महादेवी वर्मा, डा. हंसा मेहता, डा. मृदुला गर्ग, मालविका कार्लेकर, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, आगस्ट बेबेल (Woman in the Past Present and Future), बार्बरा डेकार्ड (The Woman movement), चार्फे (Woman and equality), लेलिता बोल्डिंग (Woman in the 20th century), गौतम स्टेअर्सी (Indian Woman in Transition), जे.एस. मिल (On the Subjection of Woman), मारिया मैडम (Indian Woman and Patriarchy), प्रोमिला कपूर (Marriage and the Working Woman in India), डा. कृपाल पांडे (परिधि पर स्त्री), श्री अरविंद जैन (औरत होने की सजा), तस्लीमा नसरीन (औरत के हक में) जैसे लेखकों के नारी-विषयक चिंतन और सोच के कारण इधर नारी-विषयक विभावना में काफी परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा है । प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में नारी के इन बदलते तेवरों को हम नदी के द्वीप (अज्ञेय), अन्धेरे बन्द कमरे (मोहन राकेश), अंतराल (मोहन राकेश),

डाक बंगला (कमलेश्वर), मुक्तिबोध (जैनेन्द्र), रेखा (भगवती-चरण वर्मा), उग्रतारा (नागार्जुन), जुलूस (रेणु), बैला-खियोंवाली इमारत (रमेश बक्षी), सूरजमुखी अँधेरे के (कृष्णा सोबती), पचपन खंभे लाल दीवारें (उषा प्रियंवदा), रुकोगी नहीं राधिका ? (उषा प्रियंवदा), आपका बंटी (मन्नू भंडारी), चित्तकोबरा (मृदुला गर्ग), उसके हिस्से की धूप (मृदुला गर्ग), कृष्णकली, चौदह फेरे, स्मशानचम्पा (शिवानी); एक पति के नोट्स (महेन्द्र भल्ला), रेत की मछली (कान्ता भारती), (दिनान्त (शीला रोहेकर), पतझड़ की आवाजें (निरुपमा सेवती), कुमारिकाएं (कृष्णा अग्निहोत्री), अकेला पलाश (मेहरुन्निसा परवेज़), चिड़ियाघर (गिरिराज किशोर), नावें (शशिप्रभा शास्त्री), बेघर (ममता कालिया), नगरपुत्र हँसता है (धर्मेन्द्र गुप्त) आदि उपन्यासों में रेखांकित कर सकते हैं ।

ऊपर जिन स्थितियों का निर्देश हुआ है, उनके रहते नारी के स्वरूप, चिंतन, उसकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति, उसकी मान्यताएं इत्यादि में परिवर्तन आया है । यह परिवर्तन शिक्षित नारी में विशेष रूप से पाया जाता है । अब नारी आर्थिक दृष्टया आत्मनिर्भर होने लगी है । परन्तु उसके कारण कहीं-कहीं उसका आर्थिक शोषण भी हो रहा है । "छाया मत छूना मन " की वसुधा, "पतझर की आवाजें " की अनुभा, "पचपन खंभे लाल दीवारें " की सुषमा प्रभृति इसके उदाहरण हैं ।

अब नारी घर की चहारदिवारी में कैद नहीं है । नौकरी-धंधे के लिए वह सरकारी दफ्तर तथा कार्यालयों में जाती है । इसके साथ ही नारी के दैहिक शोषण का एक नया कोण जुड़ता है । "डाक-बंगला " की इरा, "छाया मत छूना मन " की वसुधा, "रेत की मछली " की कुंतल, "नावें " की मालती, "ढहती दीवारें "

की सुप्रिया आदि को हम इस संदर्भ में देख सकते हैं । समस्या का एक पहलू यह भी है कि इन परिवर्तित स्थितियों में कुछ नारियों ने अपने यौन-आकर्षण को भुनाकर उससे लाभ उठाने की चेष्टा की है । "पतझर की आवाजें " की उषा , आफिस में प्रमोशन पाने के लिए अपने बास सी. के. को हर प्रकार की छूट देती है । उसका तो स्पष्ट अभिमत है कि " इस मर्द जात के साथ सभी सोओ , अगर माल हासिल होता हो या पोजिशन हासिल होती हो ।" [51] अपने इस सिद्धान्त के कारण अधिक कार्य-कुशल न होते हुए भी वह सी. के. की पर्सनल सेक्रेटरी बन जाती है और अल्प वेतन में शानदार पार्टियाँ को आयोजित कर अतिथियों को महंगी से महंगी शराब पिलाती है । वस्तुतः यह एक प्रकार का उसका "इन्वेस्टमेण्ट " ही होता है ।

" चिड़ियाघर" की मिसेज रिज़वी भी उषा के सिद्धान्तों में माननेवाली महिला है । वह स्पष्टतया स्वीकार करती है कि आराम से नौकरी करने के लिए अफसर को कब्जे में रखना चाहिए और अफसर को कब्जे में रखा जा सकता है , स्वयं बेवकूफ बनकर या अफसर को बेवकूफ बनाकर ।" [52]

"छाया मत छूना मन " की कंचन , "फूलपत्ती की कली , "मुक्तिबोध" की नीलिमा , "अँधेरे बन्द कमरे " की सुषमा श्रीवास्तव , "घंटता हुआ आदमी " की सुनंदा , "उसकी पंचवटी" की माधवी आदि नारी-पात्रों को इस संदर्भ में रेखांकित किया जा सकता है ।

उच्च शिक्षा तथा उच्च सामाजिक स्थिति जैसे कारणों से इधर हमें कुछ तेज-तर्रार नारी-पात्र भी दृष्टिगोचर होने लगे हैं । "अँधेरे बन्द कमरे " की नीलिमा , "मुक्तिबोध " की नीलिमा , "टेराकोटा" की मिति , "रुकोगी नहीं राधिका की

[illegible] राधिका , "अकेला पलाश " की तहमीना , "आपका बण्टी " की शकुन , "कृष्णकली" की कली , "चित्तकोबरा" की मनु , "टूटा हुआ इन्द्रधनुष " की अर्चना आदि ऐसी ही तेज-तर्रार नारियाँ हैं ।

ग्रामीण और कस्बाई विस्तारों में भी कुछ तेज-तर्रार नारी-पात्र मिलते हैं । ऐसे नारी-पात्रों में "मित्रो मरजानी" की सुमित्रावन्ती , "जल टूटता हुआ " की लवंगी , और बदमी , "एक टुकड़ा इतिहास और " की चंदीदेवी (चनुली) , "चौथी मुट्ठी" (शैलेश मटियानी) की मोती माँ , "साँप और सीढ़ी (शानी) की धान माँ , "उग्रतारा" की उगनी , " नदी फिर बह चली" की परबतिया आदि की परिगणना कर सकते हैं ।

नारी-जीवन में अवरोध उत्पन्न करने वाली कुछ परंपराओं और रूढ़ियों को इधर की कई व्यक्तित्व-संपन्न नारियों ने नकारा है । ऐसी व्यक्तित्व-संपन्न एवं नारी-अस्मिता से युक्त रूढ़िमुक्त नारियों में हम शशि (शेखर एक जीवनी) , शैल (दादा कामरेड) , रेखा (नदी के द्वीप) , इला (जयवर्द्धन) , तारा (झूठा सच) , कनक (झूठा सच) , राधिका (रुकोगी नहीं राधिका) मिति (टेराकोटा) , रत्तिका (सूरजमुखी अँधेरे के) , भिवानी (प्रेम अपवित्र नदी — लक्ष्मीनारायण लाल) , चारु (दूरियाँ) , अर्चना (सूखा घोंसला) , हरा (डाक बंगला) , मालती (काली आँधी - कमलेश्वर) , सौदामिनी (स्वामी) , वसुधा (तत्सम) , मनु (चित्तकोबरा) , नीलिमा (मुक्तिबोध) , उगनी (उग्रतारा) , ज्ञानो (धरती धन न अपना) , बदमी (जल टूटता हुआ) , चनुली (एक टुकड़ा इतिहास) , सगुन (नाच्यौ बहुत गोपाल) , धान माँ (साँप और सीढ़ी) इत्यादि नारी-पात्रों को परिगणित कर सकते हैं ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सन् 1900 तक की कालावधि में हमें नारी के कई बदलते रूप और बदलते तेवरों के दर्शन होते हैं। शोषित और प्रताड़ित होते हुए भी ये नारियां अपने अस्तित्व के लिए जूझ रही हैं। उनका यह जीवट -- जिजीविषा प्रशंसनीय है।

निष्कर्ष :
=======

अध्याय के समग्रावलोकन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों तक सहजतया पहुंच सकते हैं : ---

§1§ रामप्रसाद निरंजनी, मल्लूलालजी गुजराती, पंडित सदल मिश्र, मुंशी सदासुखलाल तथा मुंशी इंशाअल्लाखां के प्रयत्नों से आधुनिक काल में खड़ी बोली का गद्य विकसित हो चला जिसने पत्र-पत्रिकाओं तथा उपन्यासों के प्रचलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

§2§ आधुनिक काल में हिन्दी उपन्यास के आविर्भाव में गद्य का विकास, अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार, पुनर्जागरण की प्रवृत्तियां औद्योगीकरण की प्रवृत्ति, नगरीकरण की प्रवृत्ति प्रमुख कारणभूत हैं।

§3§ प्रेमचन्द-पूर्वकालीन उपन्यास स्थूल कथावस्तु प्रधान, भावुकतापूर्ण, रोमानी, अपरिपक्व, चरित्र-चित्रण रहित, किंचित् आदर्शवादी तथा अस्तरीय कहे जा सकते हैं।

§4§ हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव प्रेमचन्द से प्राप्त हुआ। प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को यथार्थ से संयुक्त करते हुए उसे एक विस्तृत धरातल-फलक से जोड़ा। इस काल के उपन्यासों में हमें भारतीय समाज के चतुर्मुखी शोषण का यथार्थ आकलन उपलब्ध होता है।

§5§ प्रेमचन्दकाल में मुख्यतया दो प्रकार के उपन्यास प्राप्त होते हैं — सामाजिक समस्यामूलक उपन्यास तथा ऐतिहासिक उपन्यास । यद्यपि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का सूत्रपात इस युग में हो चुका था । प्रेमचन्द के लेखन में एक स्पष्ट विकास-आलेख दृष्टिगोचर होता है । वे आदर्शवाद, आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से होते हुए अन्ततः यथार्थवादी कला-मूल्यों को उकेरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं ।

§6§ प्रेमचन्दोत्तरकाल में सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, पौराणिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास, तथा व्यंग्यात्मक उपन्यास जैसी नाना प्रवृत्तियां मिलती हैं ।

§7§ 19वीं शताब्दी में उद्भूत अनेक सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों ने नारी-विषयक विभावना को परिवर्तित करने तथा उसे स्वस्थ तरीके से पुष्ट करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है ।

§8§ पश्चिम के नारी-मुक्ति आंदोलन, मार्क्सवादी चिंतन, गांधीवादी विचारधारा आदि के कारण इधर नारी-चेतना निरंतर विकसित हो रही है ।

§9§ प्रेमचन्दकाल तक की नारी समाज की जर्जर प्रगति-विरोधी रूढ़ियों से जूझ रही थी, प्रेमचन्दोत्तर काल की नारी अपनी अस्मिता और विचारों के लिए संघर्ष कर रही है ।

§10§ जिन रूढ़ियों तथा परंपराओं से नारी अधिकाधिक बंधनग्रस्त हो रही थीं, उन रूढ़ियों तथा परंपराओं और संस्कारों को इधर की नारी एक सिरे से नकार रही है । परंपरा का नारी-विकासावरोधी आयाम उसे अब स्वीकार्य नहीं है ।

=======.XXXXXX =======

:: सन्दर्भानुक्रम ::

(1) द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 382 ।

(2) द्रष्टव्य : संस्कृति के चार अध्याय : डा. रामधारी सिंह दिनकर : पृ. 466 ।

(3) द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 52 ।

(4) द्रष्टव्य : संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 556-57 ।

(5) द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास : डा. नगेन्द्र : पृ. 481

(6) हिंदी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : पृ. 53 ।

(7) संस्कृति के चार अध्याय : पृ. 555 ।

(8) हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 434

(9) चन्द्रावली नाटिका : बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : सं. कृष्णदेव शर्मा : द्वितीय संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण : पृ. 78 ।

(10) हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : पृ. 53-54 ।

(11) द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में स्वातंत्र्योत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 51 ।

(12) द्रष्टव्य : वही : पृ. 50 ।

(13) द्रष्टव्य : हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 26 ।

(14) द्रष्टव्य : भारतनुं गेझेटियर (इतिहास अने संस्कृति) : सं. डी. एच. चोपड़ा : पृ. 506-507 ।

(15) द्रष्टव्य : हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 382 ।

(16) वही : पृ. 434 ।

(17) भारत का सांस्कृतिक इतिहास : हरिदत्त वेदालंकार : पृ. 277 ।

§18§ भारतीय समाज तथा संस्कृति : डा. एम.एल. गुप्ता : पृ. 138

§19§ मार्क्स और पिछड़ा हुआ समाज : डा. रामविलास शर्मा : पृ. 235 ।

§20§ संस्कृति के चार अध्याय : डा. रामधारी सिंह दिनकर : पृ. 544 ।

§21§ वही : पृ. 547 ।

§22§ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त सुगम इतिहास : डा. पारुकान्त देसाई ।: पृ. 53 ।

§23§ भारतीय सामाजिक समस्याएँ : डा. एम.एल. गुप्ता : पृ. 94 ।

§24§ वही : पृ. 94 ।

§25§ एग्रिकल्चर एण्ड इन्डस्ट्रियालाइजेशन : पी.कांग. चांग : पृ. 69 ।

§26§ भारतीय सामाजिक समस्याएँ : पृ. 95 ।

§27§ यू.एन. रिपोर्ट : प्रोसेस एण्ड प्रोब्लेम्स आफ इण्डि इन्डस्ट्रीयालाइजेशन — अण्डर डेवेलोप्ड कंट्रीज : पृ. 2 ।

§28§ युगनिर्माता प्रेमचन्द तथा कुछ अन्य निबंध : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 76 ।

§29§ भारतीय सामाजिक समस्याएँ : पृ. 99 ।

§30§ वही : पृ. 99 ।

§31§ वही : पृ. 99 ।

§32§ वही : पृ. 99 ।

§33§ वही : पृ. 112 ।

§34§ वही : पृ. 113 ।

§35§ अलग अलग वैतरणी : पृ. 685-686 ।

§36§ साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा. पारुकान्त देसाई : पृ. 82 ।

§37§ विस्तार के लिए द्रष्टव्य : भारतीय सामाजिक समस्याएँ : पृ. 110-118 ।

§38§ हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 434

§39§ हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव : डा. भारतभूषण अग्रवाल : पृ. 24 ।

{40} हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा. एस.एन. गणेशन : पृ. 58 ।

{41} वही : पृ. 26 ।

{42} हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में साठोत्तरी हिन्दी उपन्यास : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 95-100 ।

{43} जिस क्रम में उपन्यासकारों के नाम दिए हैं, उसी क्रम में प्रत्येक की एक-एक चर्चित कृति को यहाँ लिया गया है ।

{44} यहाँ उल्लिखित उपन्यासकारों के एक-एक उपन्यास को उनके नामके क्रम से रखा गया है ।

{45} प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास की शिल्पविधि :xपृ.x886x।x : डा. सत्यपाल चुघ : पृ. 556 ।

{46} सिद्धान्त अध्ययन और समस्याएं : डा. सियाराम तिवारी : पृ. 11 ।

{47} हिन्दी उपन्यासों का शिल्पविधान : डा. प्रदीपकुमार शर्मा : पृ. 213 ।

{48} समीक्षायण : डा. पारूकान्त देसाई : पृ. 121 ।

{49} कबिरा खड़ा बाज़ार में : डा. पारूकान्त देसाई : भूमिका से ।

{50} वही : भूमिका से ।

{51} पतझड़ की आवाजें : निरुपमा सेवती : पृ. 95 ।

{52} चिड़ियाघर : गिरिराजकिशोर : पृ. 52 ।

====== xxxxxxxx ======